

घअसिमषी कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च ।

कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः ॥ड [ महापु. १६।१७९ ] ॥४३॥

अथ मोक्षतत्त्वं लक्षयति--

येन कृत्स्नानि कर्माणि मोक्षयन्तेस्यन्त आत्मनः ।

रत्नत्रयेण मोक्षोसौ मोक्षण तत्क्षयः स वा ॥४४॥

कृत्स्नानि--प्रथम घातीनि पश्चदघाती नि च । अस्यन्ते अपूर्वाणि परमसंवरद्वारेण निरु ध्यन्ते पूर्वोपात्तानि च परमनिर्जराद्वारो भृश विश्लिष्यन्ते येन रत्नत्रयेण सो मोक्षा जीवन्मुक्तिलक्षणो भावमोक्षः स्यात् । तत्क्षयः--वेदनीयायुर्नामगोत्ररू पाणा कर्मपुदगलाना जीवेन सहात्यन्तविश्लेषः । स एष द्रव्यमोक्षः । उक्तं च---

---

है और कर्मको जो बलपूर्वक उदयावलीमे लाकर भोगा जाता है वह अविपाक निर्जरा है । बुद्धिपूर्वक प्रयुक्त अपने परिणामको उपक्रम कहते है । शुभं और अशुभ परिणामका निरोध रूप जो भावसंवर है वह है शुद्धोपयोग । उस शुद्धोपयोग से युक्त तप मुमुक्षु जीवोका उपक्रम है । कहा भी है--

घसंवर और शुद्धोपयोगसे युक्त जो जीव अनेक प्रकारके अन्तरंग बहिरंग तपोमे संलग्न होता है वह नियमसे बहुत कर्मोंकी निर्जरा करता है ।ड

मुमुक्षुओसे भिन्न अन्य लोगोका अपने और दूसरोके सुख और दुःखके साधनोका बुद्धिपूर्वक प्रयोग भी उपक्रम है । क्योकि घर्षयवृत्तिड शब्दसे सामान्यतः परिणाम मात्रका भी ग्रहण किया है । अतः अन्य लोग भी अपनी या दूसरोकी दुःख निवृत्ति और सुख प्राप्तिके लिए जो कुछ करते है उससे उनके भी औपक्रमिकी निर्जरा होती है कहा भी है--

अचानक उपस्थित होने वाला इष्ट या अनिष्ट दैवकृत है उसमे बुद्धिपूर्वक व्यापारकी अपेक्षा नही है । और प्रयन्तपूर्वक होनेवाला इष्ट या अनिष्ट अपने पौरुषका फल है क्योकि उसमे बुद्धिपूर्वक व्यापारकी अपेक्षा है ॥४३॥

मोक्षत्वको कहते है--

जिस रत्नत्रयसे आत्मासे समस्त कर्म पृथक किये जाते है वह मोक्ष है । अथवा समस्त कर्मोंका नष्ट हो जाना मोक्ष है ॥४४॥

विशेषार्थ--मोक्षके भी दो भेद है--भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष । रत्नत्रयसे निश्चय सम्यग्दश्रन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यकचारित्र लेना चाहिए । इतना ही नही, बल्कि उन रूप परिणत आत्मा लेना चाहिए । अतः जिस निश्चय रत्नत्रयरूप आत्माकेद्वारा

बुद्धिपूर्वव्यपक्षायामिष्टानिष्ठं स्वपौरुषात् ॥--आत्ममी., ९१ श्लो. ।

घआत्यन्तिकः स्वहेतोर्यो विश्लेषो जीवकर्मणोः ।

स मोक्ष फलमेतस्य ज्ञानाद्याः क्षायिका गुणाः ॥ [ तत्त्वानुशा. २३० ]

तथा--घबन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः [ त. सू. १०।२ ] इत्यादि ।

तथैव संग्रहा भगवान्नेमिचन्द्रः--

घसव्वस्स कम्मणो जो खयहेसू अप्पाणो हु परिणामो ।

णेओ स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुधभावो ॥ [ द्रव्यसं. ३७ ] ॥४४॥

---

आत्मा से समस्त कर्म छूटते हैं--अर्थात् नवीन कर्म तो परम संवरके द्वारा रोक दिये जाते हैं और पूर्वबद्ध समस्त कर्म परम निर्जराके द्वारा आत्मासे अत्यन्त पृथक कर दिये जाते हैं वह निश्चय रत्नत्रयरूप आत्मपरिणाम भावमोक्ष है । समस्त कर्मसे आठो कर्म लेना चाहिए । पहले मोहनीय आदि घाति कर्मोंका विनाश होता है पीछे अघाति कर्मोंका विनाश होता है । इस तरह समस्त कर्मोंका क्षय हो जाना अर्थात् जीवसे अत्यन्त पृथक हो जाना द्रव्यमोक्ष है । कहा भी है--

घबन्धके कारणोका अभावं होनेस नवीन कर्मोंका अभाव हो जाता है और निर्जराके कारण मिलनेपर संचित कर्मका अभाव हो जाता है । इस तरह समस्त कर्मोंसे छूट जानेको मोक्ष कहते हैं ।

घअपने कारणसे जीव और कर्मका जो आत्यन्तिक विश्लेष है--सर्वदाकेलिये पृथकता है वह मोक्ष है । उसका फल क्षायिक ज्ञानादि गुणाकी प्राप्ति है । कर्मोंका क्षय हो जानेपर आत्माके स्वाभाविक गुण प्रकट हो जाते हैं ।

घआत्माका जो परिणाम समस्त कर्मोंकेक्षयमे हेतु है उसे भावमोक्ष जानो । और आत्मासे कर्मोंका पृथक होना द्रव्यमोक्ष है ।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमे निश्चयनय और व्यवहानयसे मोक्षके कारणका विवेचन इस प्रकार किया है--

घइसके पश्चात् मोहनीय कर्मके क्षयसे युक्त पुरुष कवलज्ञानको प्रकट करके अयोगकेवली गुणस्थानके अन्तिम क्षणमे अशरीरपनेका साक्षात् हतु रत्नत्रयरूपसे परिणमन करता है । निश्चयनयसे यह कथन निर्बाध है । अर्थात् निश्चयनयसे अयोगकेवली गुणस्थानके अन्तिम क्षणमे रहनेवाला रत्नत्रय मोक्षका साक्षात् कारण है क्योंकि उससे अगली ही क्षणमे मोक्षकी प्राप्ति होती है । और व्यवहारनयसे तो रत्नत्रय इससे पहले भी मोक्षका कारण कहा जाता है, अतः इसमे विवाद करना उचित नहीं है । अर्थात् व्यवहारनयसे रत्नत्रय मोक्षका कारण है । यह कथन परम्पराकारणकी अपेक्षा है । किन्तु साक्षात् कारण तो चौदहवे गुणस्थानके अन्तिम समयमे वर्तमान रत्नत्रय ही है क्योंकि उसके दूसरे ही क्षणमे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥४४॥

---

१. ततो मोहक्षयोपेतः पमानुदभूतकेवलः ।  
 विशिष्टकराः साक्षादशरीरत्वहेतुना ॥  
 रत्नत्रितयरू पेणायोगवेन्नलिनोन्तिमे ।  
 क्षणे विर्तते हयेतदबाध्यं निश्चयान्नयात ॥  
 व्यवहारनयाश्रित्या त्वेतत प्रागेव कारणम ।  
 मोक्षस्येति विवादेन पर्याप्त न्यायदर्शिन ॥--१।१।९३-९६

अथ मुक्तात्मस्वरू प प्ररू पयति--

प्रक्षीणे मणिवन्मले स्वमहसि स्वार्थप्रकाशात्मके  
 मज्जन्तो निरू पाख्यमोघचिदचिन्मोक्षार्थितीर्थक्षिपः ।  
 कृत्वानाद्यपि जन्म सान्तममृत साद्यप्यनन्तं श्रिताः  
 सददृग्धीनयवृत्तसंयमतपः सिद्धाः सदानन्दिनः ॥४५॥

मज्जतः--एतेन वैलखण्यं लक्षयति निरू पाख्येत्यादि । निरू पाख्यमोक्षार्थिनः  
 प्रदीपनिर्वाणकल्पमात्म-निर्वाणमिति निःस्वभावमोक्षवादिनो बौद्धाः मोघचिमोक्षार्थिनः घ्वैतन्य पुरू शस्य  
 स्वरू पं तच्च ज्ञेराकार-परिच्छेदपराडमखमिति निष्फलचैतन्यस्वभावमोक्षवादिनः सांख्याः ।  
 अचिन्मोक्षार्थिनः बुद्धायादि-नवात्म-विशेषगुणोच्छेदलक्षणनिश्चैतन्यमोक्षवादो वैशेषिकाः । तेषा  
 तीर्थान्यागमान क्षिपन्ति निराकुर्वन्ति तद्धिलक्षण-मोक्षप्रतिष्ठितत्वात् । जन्मइसंसारः,  
 संतानरू पतयादिरहितमपि सान्तंइसविनाश कृत्वा । अमृत--मोक्ष पर्यायरू पतया साद्यपि  
 पुनर्भवाभावादनन्त--निरवधि । सदृगित्यादि--आरम्भवस्थपेक्षया सम्यक्त्वादिना सिद्धः । केचिद्धि  
 सम्यग्दर्शनाराधनाप्राधान्येन प्रक्रम्य संपूर्णरत्नत्रयं कृत्वा प्रक्षीणमलकलडाः स्वात्मोपलब्धिलक्षणा  
 सिद्धिमध्यासिता । एवं सम्यग्ज्ञानदावपि योज्यम । तथं चोक्तम--

घ्तवसिद्धे णयसिद्धे संजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य ।  
 णाणंमि दंसणं मिय सिद्धे सिरसा णमंसामि ॥६ [ सिद्धभक्ति ]

इति समासतो जीवादिनवपदार्थव्यवस्था । व्यासतस्तु परमागमार्णवावगाहनादधिगन्तव्या ॥४५॥

आगे मुक्तात्माका स्वरू प कहते है--

मणिकी तरह द्रव्यकर्म और भावकर्मरू पी मलके पूर्णरू पसे क्षय हो जानेपर, अपने और  
 त्रिकालवर्ती ज्ञेय पदार्थोंका एक साप्रकाश करनेवाले दर्शन ज्ञानरू प स्वाभाविक निज तेजमे निमग्न और  
 निरू पाख्यमुक्ति, निष्फल चैतन्यरू प मुक्ति और अचेतन मुक्तिके इच्छुक दार्शनिकोंके मतोंका निराकरण

करनेवाले, अनादि भी जन्मपम्पराको सान्त करनेवाले, तथा सादि भी मोक्षको अनन्त रूपसे अपनानेवाले, और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, नय, चारित्र, संयम और तपके द्वारा आत्म स्वभावको साध लेनेवाले सदा आनन्द स्वरूप मुक्त जीव होते हैं ॥४५॥

विशेषार्थ--जैसे मणि अपने ऊपर लगे मलके दूना हो जानेपर अपने और परका प्रकाश करनेवाले अपने तेजमे डूबी रहती है उसी तरह मुक्तत्मा भी द्रव्यकर्म और भावकर्मके नष्ट हो जानेपर अपने और त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जाननेवाले अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञानरूप अपने स्वरूपको लिये हुए उत्पाद-व्यय-धौव्य रूपसे सदा परिणामन करते हैं। अन्य दार्शनिकोंने मुक्तिको अन्यरूप माना है। बौद्ध दर्शन निःस्वभाव मोक्षवादी है। जैसे तेल और बातीके जलकर समाप्त हो जानेपर दीपकका निर्वाण हो जाता है उसी तरह पाँच स्कन्धोका निराध होनेपर आत्मका निर्वाण होता है। बौद्ध आत्माका अस्तित्व नहीं मानता और उसका निर्वाण शून्य रूप है। सांख्य मुक्तिमे चैतन्य तो मानता है किन्तु ज्ञानादि नहीं मानता। वैशेषिक मोक्षमे आत्माके विशेष गुणोका विनाश मानता है। जैन दर्शन इन सबसे विलक्षण मोक्ष मानता है। अतः जैन सम्मत मुक्तात्मा इन दार्शनिकोंकी मुक्ति सम्बन्धी मान्यताको काटनेवाले हैं। वे अनन्त संसारको सान्त करके मोक्ष प्राप्त करते हैं उस मोक्षकी आदि तो है किन्तु अन्त नहीं है वहाँ से जीव कभी संसारमे नहीं आता। इस तरह संक्षेपसे जीव आदि नौ पदार्थोंकी व्यवस्था जानना। विस्तारसे जाननेके लिए समयसार तत्त्वार्थसूत्र आदि पढ़ना चाहिए।

अथ एवंविधतत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणस्य सम्यक्त्वस्य सामग्रीविशेष श्लोकद्वयेनाह--

दृष्टिधनसप्तकस्यान्तर्हेतावुपशमे क्षये ।

क्षयोपशम आहोस्विदव्यः कालादिलब्धिभाक ॥४६॥

पूर्णः संज्ञी निसर्गेण गृहात्यधिगमेन वा ।

त्र्यज्ञानशुद्धिदं तत्त्वश्रद्धानात्मसुदर्शनम ॥४७॥

दृष्टिधनसप्तकस्य--दृष्टि सम्यक्त्व धनन्ति दृष्टिध्यानि मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वानन्तनु-बन्धिम्रेधमानमायोलोभाख्यानि कर्माणि । उपशमे--स्वफलदानसामर्थ्यानुदभवे । क्षये--आत्यन्तिकनिवृत्तो । क्षयोपशमे--क्षीणाक्षीणवृत्तो । भव्यः--सिद्धियोग्यो जीवः । कालादिलब्धिभाक--काल आदिर्येषा वेदनाभिभवादीना ते कालादयस्तेषा लब्धिः सम्यक्त्वोत्पादने योग्यता ता भजन ॥४६॥

पूर्णः-- षटपर्याप्तियुक्तः । तल्लक्षण यथा--

घआहारडहषीकान-भ्राषामानसलक्षणाः ।

पर्याप्तयः षडत्रादि शक्ति-निष्पत्ति-हेतवः ॥४ [ अमित. पं. सं. १।१२८ ]

संज्ञी--

शिक्षालापोपदेशाना ग्राहको यः स मानसः ।

आगे तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनकी विशेष सामग्री दो श्लोकोसे कहते हैं--

कालादिलब्धिसे युक्त संज्ञी पर्याप्तक भव्य जीव सम्यग्दर्शनका घात करनेवाली सात कर्म प्रकृतियोंके उपशम, क्षय या क्षयोपशमरूप अन्तरंग कारणके होनेपर निसर्गसे या अधिगमसे तत्त्वश्रद्धानस्वरूप सम्यग्दर्शनको ग्रहण करता है । उस सम्यग्दर्शनके होनेपर कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाते हैं ॥४६-४७॥

विशेषार्थ--जो शिक्षा, बातचीत और उपदेशको ग्रहण कर सकता है वह जीव संज्ञी है । कहा भी है--

छजो शिक्षा, आलाप उपदेशको ग्रहण करता है उस मनसहित जीवको संज्ञी कहते हैं । जो हेय उपादेयका विचार नहीं कर सकता वह असंज्ञी है ।

जिसकी आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं उसे पर्याप्तक कहते हैं । कहा भी है--आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्त शक्तिकी निष्पत्तिमें कारण हैं ।

जिसे जीवमें मोक्ष प्राप्तिकी योग्यता है उसे भव्य कहते हैं । और सम्यक्त्वग्रहणकी योग्यताको लब्धि कहते हैं । कहा भी है--

ध्वारो गतियोमे-से किसी भी गतिवाला भव्य, संज्ञी, पर्याप्तक, मन्द कषायी, ज्ञानोपयोगयुक्त, जागताहुआ, शुभलेश्यावाला तथा करणलब्धिसे सम्पन्न जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है ।

सम्यग्दर्शनका घात करनेवाली सात कर्म प्रकृतियाँ हैं--मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, अनन्तानुबन्धी, क्रोध, मान, माया, लोभ । इनका उपशम, क्षय या क्षयोपशम सम्यग्दर्शनका अन्तरंग कारण है । अपना फल देनेकी शक्तिको प्रकट होनेके अयोग्य कर देना उपशम है । कर्मका विनाश क्षय है । आत्माके गुणोंको एकदम ढँकनेवाली कर्मशक्तिको

( त्रि- ) अज्ञानशुद्धिदं--त्रयाणामज्ञानानां मिथ्यामतिश्रुतावधीना शुद्धि यथार्थग्राहित्वहेतु नैर्मल्यं दत्ते । तत्त्वार्थश्रद्धानात्म--तत्त्वानां श्रद्धां तथेति प्रतिपत्तिर्यस्मात्तद्यर्शनमोहरहितमात्मस्वरूपं न पुनारु चिस्तस्याः क्षीणमोहेष्वभावात् । तथा च सम्यक्त्वाभावेन ज्ञानचारित्राभावात् तेषा मुक्त्यभावः स्यात् । तदुक्तम्--

धृच्छाश्रद्धानमित्येके तदयुक्तममोहिनः ।

श्रद्धानविरहासक्तेर्ज्ञानचारित्रहानितः ॥ [ तत्त्वार्थश्लोक. २।१० ]

यत्तु तत्त्वरूपं चिमिति प्रागुक्तं तदुपचारात् । उक्तं च --

चतुर्गतिभवो भव्यः संज्ञी सुजागरी ।

अथ कालादिलब्धिविवरणम--भव्यः कर्माविष्टोर्ध्वपुद्गलपरिवर्तपरिमाणे काले विशिष्ट ( अवशिष्टे ) प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवतीति काललब्धिः । आदिशब्देन वेदनाभिभवजातिस्मरण-जिनेन्द्रार्चादर्शादयो गृह्यन्ते । श्लोकः--

ध्क्षायोपशमिकी लब्धि शौध्दी दैशनिकी भवीम ।

प्रायोगिकी समासाद्य कुरते करणत्रयम ॥ड [ अमि. पं. सं. १।२८७ ]

सर्वधति स्पर्धक कहते है । और आत्माके गुणोको एकदेशसे ढॉकनेवाली कर्मशक्तिको देशघाति स्पर्धक कहते है । सर्वधातिस्पर्धकोका उदयाभवरू प क्षय और आगामी कालमे उदय आनेवाले कर्मनिषेकोका उपशम तथा देशघातिस्पर्धकोका उदय, इस सबको क्षयोपशम कहते है । कर्मोसे बध्द भव्य जीव अर्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण काल शेष रहनेपर प्रथमू सम्यक्त्वके योग होता है, क्योकि एक बार सम्यक्त्व होनेपर जीव इससे अधिक समयतक संसारमे नही रहता । इसे ही काललब्धि कहते है । सम्यग्दर्शनके बाहय कारण इस प्रकार है--

देवोमे प्रथम सम्यग्दर्शनका बाहय कारण धर्मश्रवण, जातिस्मरण, अन्य देवोकी ऋध्दिका दर्शन और जिन महिमाका दर्शन है । ये आनत स्वर्गसे पहले तक जानना । आनत, प्राणत, आरण, अच्युत स्वर्गके देवोके देवध्दिदर्शनको छोडकर अन्य तीन बाहय कारण है । मनुष्य और तिर्यचोके जातिस्मरण, धर्मश्रवण और देवदर्शन ये तीन बाहय कारण है । प्रथम तीन नरकोमे जातिस्मरण, धर्मश्रवण और वेदना अभिभंव ये तीन बाहय कारण है । शेष नरकोमे जातिस्मरण और वेदनाभिभव दो ही बाहय कारण है ।

लब्धियोके विषयमे कहा है--

भव्य जीव क्षयोपशमलब्धि, विशुध्द लब्धि, देशनालब्धि और प्रायोग्यलब्धिको प्राप्त करके तीन करणोको करता है । पूर्वबध्द कर्मपटलके अनुभाग स्पर्ध कोंका विशुध्द परिणमोके योगसे प्रति समय अनन्त गुणहीन होकर उदीरणा होना क्षयोपशम लब्धि है ।

अनुभागस्पर्धकका स्वरू प इस प्रकार कहा है--

२. धर्मश्रुति-जातिस्मृति-सुरध्दिजिनमहिमदर्शन मरुताम ।

बाहय प्रथमदृशोड विना सुरध्दीक्षयानतादिभुवाम ॥

ग्रैवेयकिणा पूर्वे द्वे सजिनर्चक्षणे नरतिरश्चाम ।

सरू गभिभवे त्रिष प्राक श्वभ्रेष्वन्येषु सद्वितीयोसो ॥

३. वर्गः शक्तिसमूहोणोरणूना वर्गणोदिता ।

वर्गणाना समूहस्तु स्पर्धक स्पर्धकापहै अ--अमित. पं. सं. १।४५

प्रागुपात्तकर्मपटलानुभांगस्पर्धकानां शुद्धियोगेन प्रतिसमयानन्तगुणहीनानामुदीरणा  
 क्षयोपशमिकी लब्धिः ।१। क्षयोपशमविशिष्टोदीर्णानुभांगस्पर्धकप्रभवः परिणाम : सातादिकर्मबन्धनिमित्तं  
 सावद्यकर्मबन्धिवरु ध्दा शौध्दी लब्धिः ।२।  
 यथार्थतत्त्वोपदेशतदुपदेशकाचार्याद्युपलब्धिरूपदिष्टार्थग्रहणधरविचरणशक्तिर्वा दैशनिकी लब्धिः ।३।  
 अन्तःकोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामयोगेन सत्कर्मसु  
 संख्येयसागरोपमहस्तोनायामन्तःकोटीकोटीसारोपमस्थितौ स्थापितेषु आद्यसम्यक्त्वयोग्यता भवतीति  
 प्रयोगिकी लब्धिः । श्लोकः--

अथाप्रवृत्कापूर्वानिवृत्तिकरणत्रयम् ।

विधाय क्रमतो भव्यः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ॥६ [ अमित० पच्च. १।२८८ ]

भव्योनादिमिथ्यादृष्टिः षड्विंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मकः सादिर्मिथ्यादृष्टिर्वा  
 षड्विंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मकः सप्तविंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मको वा अष्टाविंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मको वा  
 प्रथमसम्यक्त्वमादातुकामः शुभपरिणामाभिमुखोन्तर्मुहूर्तमनन्तगणवृद्धा वर्धमानविशुद्धिश्चुर्षु  
 मनोयोगेष्वन्यतममनोयोगेन चतुर्षु वाग्योगेष्वन्यतमवाग्योगेन औदारिकवैक्रियिककाययोगोन्यतरेण  
 कायोगेन त्रिषु वेदेष्वन्यतमेन वेदेनालीढो निस्तसंश्लेशो हीयमानान्यतमकषायः साकारोपयोगो  
 वर्धमानशुभपरिणामयोगेन सर्वप्रकृतीना स्थिति हासयन्नशुभप्रकृतीना-मनुभागबन्धमपसारय शुभप्रकृतीना  
 वर्धस्त्रीणि करणानि प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तकालेन कर्ममुपक्रमते । तत्रान्तः-कोटीकोटीस्थितिर्माणि कृत्वा  
 अथप्रवृत्करणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरण च क्रमेण प्रविशति । तत्र सर्वकरणना

समान अनुभांग शक्तिवाले परमाणुके समहको वर्ग कहते है । वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते है  
 और वर्गणाओके समूहको स्पर्धक कहते हैड ।

क्षयोपशमसे युक्त उदीरणा किये गये अनुभांग स्पर्धकोसे होनेवाले परिणामोको विशुद्धिलब्धि  
 कहते है । वे परिणाम साता आदि कर्मोंके बन्धमे कारण होते है और पापकर्मके बन्धको रोकते है ॥२॥  
 यथार्थ तत्त्वका उपदेश और उसके उपदेशक आचार्योंकी प्राप्ति अथवा उपदिष्ट अर्थको ग्रहण, धारण और  
 विचारनेकी शक्तिको देशनालब्धि कहते है ॥३॥ अन्तः- कोटाकोटी सागरकी स्थितिको लेकर कर्मोंका  
 बन्ध होनेपर विशुद्ध परिणामके प्रभांवसे उसमे संख्यात हजार सागरकी स्थिति कम हो जानेपर अर्थात्  
 संख्यात हजार सागर कम अन्तः-कोटाकोटी सागर प्रमाण स्थिति होनेपर प्रथम सम्यक्त्वको ग्रहण  
 करनेकी योग्यता होती है । इसे प्रायोग्यलब्धि कहते है । इन चारो लब्धियोंके होनेपर भी सम्यक्त्वकी  
 प्राप्ति होनेका नियम नही है । हाँ, करणलब्धि होनेपर सम्यक्त्व नियमसे होता है । कहा है--

अथाप्रवृत्करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणको क्रमसे करक भव्यजीव सम्यक्त्व को प्राप्त  
 करता हैड ।

इनका स्वरूप इस प्रकार है --

जिस जीवको सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं हुई है उसे अनादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं। उसके मोहनीय कर्मकी अटटाईस पकृतियोंमे से छब्बीसकी ही सत्ता रहती है क्योंकि सम्यक्त्वके होनेपर ही एक मिथ्यात्व कर्म तीन रूप होता है। जो जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करके उसे छोड़ देता है उसे सादिमिथ्यादृष्टि कहते हैं। उसका मोहनीय कर्मकी अटटाईस प्रकृतियोंकी भी सत्ता होती है, सत्तईसकी भी और छब्बीसकी भी। जब ये दोनो ही प्रकारके मिथ्यादृष्टि पथम सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके अभिमुख होते हैं तो उनके शुभ परिणाम होते हैं, अन्तर्मुहूर्त काल तक उनकी विशुद्ध अनन्त गुणवृद्धिके साथ वर्धमान होती है, चार मनोयोगोमे-से कोई एक मनोयोग, चार वचनयोगोमे-से कोई एक वचनयोग, औदारिक और वैक्त्रियिक काययोगमे-

प्रथमसे स्वल्पाशुद्धिस्ततः प्रतिसमयन्तर्मुहूर्तसमाप्तेरनन्तगुणा द्रष्टव्या। सर्वाणि करणान्वार्थानि। अथ प्राग्वृत्ताः कदाचिदीदृशाः करणाः परिणमा यत्र तदधःप्रवृत्तकरणमिति चान्वर्थसंज्ञा। अपूर्वाः समये समये अन्ये शुद्धतराः करणा यत्र तदपूर्वकरणम्। एकसमयस्थानामनिवृत्तयो भिननाः करणा यत्र तदनिवृत्तिकरणम्। सर्वेषु नानाजीवानामसंख्येलोकप्रमाणाः परिणामा द्रष्टव्याः। तथा प्रवृत्तकरणे स्थितिखण्डनानुभागखण्डन-गुणश्रणिसंक्रमाः नि सन्ति। परमनन्तगुणवृद्धया विशुद्धया अशुभप्रकृतीरनन्तगुणानुभागहीना बध्नन्ति शुभप्रकृतीनामनन्तगुणरसवृद्धया स्थितिमपि पत्योपमा संख्योभागहीना करोति। अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणयोः

---

से काई एक काययोग, तथा तीनो वेदोमे-से कोई एक वेद होता है। संक्लेश परिणाम हट जाते हैं, कषाय हीयमान होती है, साकार उपयोग होता है। वर्धमान शुभ परिणामके योगसे सब कर्मपकृतियोंकी स्थितिमे कमी करता है, अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागबन्धको घटता तथा शुभ प्रकृतियोंके अनुभागको बढ़ाता हुआ तीन करण करता है। प्रत्येकका काल अन्तर्मुहूर्त है। कर्मोंकी स्थिति अन्तःकोटि-कोटि सागर करके क्रमसे अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणमे प्रवेश करता है। सब करणोके प्रथम समयमे अल्प विशुद्धि होती है। उसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल समाप्त होने तक प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि होती जाती है। सभी करणोके नाम सार्थक है। पहले कभी भी इस प्रकारके करण-परिणाम नहीं हुए वह अथाप्रवृत्त करण है। अथवा नीचेके समयोमे होनेवाले परिणामोसे जहाँ ऊपरके समयोमे होनेवाले परिणाम समान होते हैं उसे अधःप्रवृत्तकरण कहते हैं। ये दोनो पहले करणके सार्थक नाम है। जिसमे प्रति समय अपूर्व-अपूर्व--जो पहले नहीं हुए ऐसे परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। जिसमे एक समयवर्ती जीवोके परिणाम अनिवृत्ति=अभिन्न=समान होते हैं उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। सब करणोमे नाना जीवोके असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं। अथाप्रवृत्तकरणमे स्थिति खण्डन, अनुभागखण्डन और गुणश्रेणिसंक्रम नहीं होते, केवल अनन्त गुण विशुद्धिके द्वारा अशुभ प्रकृतियोंका अनुभाग अनन्त गुणहीन और शुभ प्रकृतियोंका अनुभाग अनन्त गुण अधिक बँधता है। स्थितिको भी पत्यके असंख्यातवे भाग हीन करता है। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके असंख्यात भाग बीतनेपर अन्तरकरण करता है। उस अन्तरकरणके द्वारा दश्रन मोहनीयका घात करके अन्तिम समयमे शुद्ध,



अशुद्ध और मिश्रके भेदसे तीन रूप करता है उसीको सम्यक्त्व, सम्यक मिथ्यात्व और मिथ्यात्व कहते हैं । कहा है--

उसके प्रश्नात् भव्यजीव अनन्तानुबन्धीके साथ दर्शन मोहनीयकी उन तीन प्रकृतियोंका उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है । संवेग, प्रशम, आस्तिक्य, दयाभाव आदिसे उस सम्यक्त्वकी पहचान होती है तथा वह सम्यक्त्व शंका आदि दोषोंसे रहित होकर समस्त दुःखोंका विनाश कर देता है अर्थात् मुक्ति प्राप्त कराता है ।

यदि मोहनीय कर्म उक्त सात प्रकृतियोंका क्षय होता है तो क्षायिक सम्यक्त्व होता है, यदि उपशम होता है तो औपशमिक सम्यक्त्व होता है तथा क्षयोपशम होनेपर क्षयोपशमिक सम्यक्त्व होता है । कहा भी है--द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्रीसे मोहनीय

---

६ क्षीणप्रशान्तमिश्रासु मोहप्रकृतिषु क्रमात् ।

पश्चाद् द्रव्यादिसामग्र्या पुंसां सद्यदर्शन त्रिधाऽऽ ॥

स्थितिखण्डनादयः सन्ति । क्रमेण ( अशुभप्रकृतीनामनुभागो नन्तुगुहान्या शुभ- ) प्रकृतीनामनन्तगुहवृद्धया वर्तते । तत्रानिवृत्तकारस्य संख्येतयेषु भागेषु गतेष्वन्तर-( करणभारभते येन दर्शनमोहनीयं निहत्य चरमसयमे ) त्रिधाकरोति शुद्धाशुद्धमिश्रभेदेन सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यकमिथ्यात्वं चेति । श्लोकः--

प्रश ( मय्य ततो भव्यः सहानन्तानुबन्धिभिः ।

ता मोहप्रकृती- ) स्तिस्त्रो याति सम्यक्त्वमादिमम ॥

संवेगप्रशमास्तिक्यदयादिव्यक्त्वक्षण ।

तत्सर्वदुःखविध्वंसि त्यक्त्वाकादिदूषणम् ॥ [ अमित. पं. सं. १।२८९-२९० ] ॥४६॥

अथ कौ निसर्गाधिगमावित्याह--

विना परोपदेशेन सम्यक्त्वग्रहणक्षणे ।

तत्त्वबोधो निसर्गः स्यात्तत्कृतोधिगमश्च सः ॥४८॥

---

कर्मकी सात प्रकृतियोंका क्रमसे क्षय या उपशम या क्षयोपशम होनेपर जीवोंके क्षायिक, औपशमिक और क्षयोपशमिक सम्यकदर्शन होता है । एक जीवके एक कालमें एक ही सम्यग्दर्शन होता है । वह सम्यग्दर्शन दर्शनमोहसे रहित आत्मस्वरूप है । रूचिका नाम सम्यग्दर्शन नहीं है । क्योंकि रूचि कहते हैं इच्छाको, अनुरागको । किन्तु जिनका मोह नष्ट हो जाता है उसमें रूचिका अभाव हो जाता है । ऐसी स्थितिमें उने सम्यक्त्वका अभाव होनेसे सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्रका भी अभाव होनेसे मुक्तिका भी

अभाव हो जायेगा । पहले जो सम्यक्त्वका लक्षण तत्त्वरू चि कहा है वह उपचारसे कहा है । धवला टीकामे कहा पहले है-- अथवा तत्त्व रू चिको सम्यक्त्व कहते है यह लक्षण अशुद्धतर नयकी अपेक्षासे जानना ।

आचार्य विद्यानन्दने भी कहा है--किन्हीका कहना है कि इच्छाश्रद्धानको सम्यक्त्व कहते है । यह ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा मानेसे मोहरहित जीवोके श्रद्धानका अभाव प्राप्त होनेसे ज्ञान और चारित्रके भी अभांवका प्रसंग आता है ॥४६-४७॥

निसर्ग और अधिगमका स्वरू प कहते है--

सम्यग्दर्शनको ग्रहण करनेके समय गुरू आदिके वचनोकी सहायताके बिना जो तत्त्वज्ञान होता है वह निसर्ग है । और परोपदेशसे जो तत्त्वज्ञान होता है वह अधिगम है ॥४८॥

विशेषार्थ--आचार्य विद्यानन्दने भी कहा है--

परोपदेशके बिना तत्त्वार्थके परिज्ञानको निसर्ग कहते है और परोपदेशपूर्वक होनेवाले तत्त्वार्थके परिज्ञानको अधिगम कहते है ।

इस वार्तिक की टीकामे आचार्य विद्यानन्दने जो चर्चा उठायी है उसे यहाँ उपयोगी होनेसे दिया जाता है--यहाँ निसर्गका अर्थ स्वभाव नहीं है क्योंकि स्वभावसे उत्पन्न हुआ

---

१-२-३. ( ) एतच्चिहाडिताः पाठा मूलप्रतौ विनष्टाः । भ.कु.च. पूरिताः । सर्वमिदममितगतिपच्चसंग्रहादेव गृहीतं ग्रन्थकृता ।

४. अथवा तत्त्वरू चिः सम्यक्त्वं अशुद्धतरनयसमाश्रयणात् ।

--षट्.खं. पु. १, पृ. १५१

विनेत्यादि--यद्वार्तिकम--[ त. श्लोक ३।३ ]

विना परोपदेशेन तत्त्वार्थप्रतिभासनम् ।

निसर्गोधिगमस्तेन कुल तदिति निश्चयः ॥४८॥

---

सम्यक्त्व तत्त्वार्थके परिज्ञानसे शून्य होनेके कारण सम्भव नहीं है । निसर्गका अर्थ है परोपदेशसे निरपेक्ष ज्ञान । जैसे सिंह निसर्गसे शूर होता है । यद्यपि उसका शौर्य अपेन विशेष कारणोसे होता है तथापि किसीके उपदेशकी उसमे अपेक्ष नहीं होती इसलिए लोकमे उसे नैसर्गिक कहा जाता है । उसी तरह परोपदेशके बिना मति आदि ज्ञानसे तत्त्वार्थको जानकर होनेवाला तत्त्वार्थश्रद्धान निसर्ग कहा जाता है । शंका--इस तरह तो सम्यग्दर्शनके साथ मति आदि ज्ञानोकी जो उत्पत्ति मानी गयी है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर ही मति आदि ज्ञान होते है उसमे विरोध आता है । क्योंकि, सम्यग्दर्शनसे पहले भी मति अज्ञान आदिको मति ज्ञान कहा जाता है । वैसे मति आदि ज्ञानोकी उत्पत्ति तो सम्यग्दर्शनके मिथ्या कहा जायेगा ? शंका--सत्यज्ञानका विषय अपूर्व होता है इसलिए मिथ्याज्ञानसे जाने हुए अर्थमे उसकी प्रवृत्ति नहीं

होती । समाधान--तब तो सभीके सत्यज्ञानकी सन्तान अनादि हो जायेगी । शंका--सत्यज्ञानसे पहले उसकेविषयमे मिथ्याज्ञानकी तरह सत्यज्ञानका भी अभाव है इसलिए सत्यज्ञानकी अनादिताका प्रसंग नहीं आता । समाधान--तब तो मिथ्याज्ञानकी तरह सत्यज्ञानका भी अभाव होनेसे सर्वज्ञानसे शून्य ज्ञाताके जडत्वका प्रसंग आता है । किन्तु ज्ञाता जड नहीं हो सकता । शंका--सत्यज्ञानसे पहले उसकेविषयका ज्ञान न तो मिथ्या है क्योंकि उसमे सत्यज्ञानको उत्पन्न करनेकी योग्यता है और न सत्य है क्योंकि वह पदार्थके यथार्थ स्वरूपका नहीं जानता । किन्तु वह सत्य और मिथ्यासे भिन्न ज्ञान सामान्य है अतः उसका द्वारा जाने गे अर्थमे प्रवृत्त होनेवाले सत्यज्ञान न तो मिथ्याज्ञानक द्वारा जाने गये अर्थका ग्राहक है और न गृहीतग्राही है । समाधान--तब तो सत्यज्ञानका विषय कथंचित अपूर्व है सर्वथा नहीं, यह बात सिद्ध ही है । और उसे स्वीकार करने पर सम्यग्दर्शनको भी वैसा ही स्वीकार करना होगा । तब मिथ्याज्ञानसे जाने हुए अर्थमे य सत्यज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन कैसे हुआ कहा जायेग । जिससे उसका समकालमे मति ज्ञानादिके माननेमे विरोध आये । शंका--इस तरह तो इतरेतराश्रय दोष आता है क्योंकि सम्यग्दर्शन हो तो परोपदेशपूर्वक तत्त्वार्थज्ञान हो और परोपदेशपूर्वक तत्त्वार्थज्ञान हो तो सम्यग्दर्शन हो । समाधान--परोपदेश निरपेक्ष तत्त्वार्थज्ञानकी तरह सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करनेके योग्य परोपदेश सापेक्ष तत्त्वार्थज्ञान सम्यग्दर्शनके होनेसे पूर्व ही अपने कारणसे उत्पन्न हो जाता है । इसलिए इतरेतराश्रय दोष नहीं आता । शंका--सभी सम्यग्दर्शन स्वाभाविक ही होते हैं क्योंकि मोक्षकी तरह अपने समयपर स्वयं ही उत्पन्न होते हैं । समाधान--आपका हेतु असिद्ध है तथा सर्वथा नहीं जने हुए अर्थमे श्रद्धा नही हो सकता । शंका--जैसे शूद्रको

एतदेशं (-देव) समर्थयते--

केनापि हेतुना मोहवैधुर्यात् कोपि रोचते ।

तत्त्वं हि चर्चनायस्तः कोपि च क्षोदखिन्नधीः ॥४९॥

केनापि--वेदनाभिभवादिना । मोहवैधुर्यात्--दर्शनमोहोपशमादेः । चर्चनायस्तः--चर्चया आयासमप्राप्तः । क्षोदखिन्नधीः--विचारविलिप्तमनाः । उक्तं च--

निसर्गोधिगमो वापि तदाप्तौ कारणद्वयम् ।

सम्यक्त्वभाक् पुमान् यस्मादल्पानल्पप्रयासतः ॥ [ सोम. उपा. २२३ श्लो. ] ॥४९॥

अथ सम्यक्त्वभेदानाह--

तत्सरागं विरागं च द्विधौपशमिकं तथा ।

क्षायिक वेदकं त्रेधा दशधाज्ञादिभेदतः ॥५०॥

स्पष्टम् ॥५०॥

अथ सरागेतरसम्यक्त्वयोरधिकरणलक्षणोपलक्षणार्थमाह--

---

वेदके अर्थको बिना जाने भी उसमे श्रद्धान होता है उसी तरह हो जायेगा । समाधान--नही, क्योकि महाभारत आदि सुननेसे शूद्रको उसीका श्रद्धान देखा जाता है । जैसे कोई व्यक्ति मिाको प्रत्यक्ष देखकर तथा उसकी चमक आदिसे मणि होनेका अनुमान करकेउसे ग्रहण करता है । यदि ऐसा न हो तो वह मणिको ग्रहण नही कर सकता । तथा मोक्ष भी स्वाभाविक नही है, वह स्वकालमे स्वयं नही होता । किन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके आत्मरूप होनेपर ही होता है । इसी तरह सम्यग्दर्शन भी दर्शनमोहके उपशम आदिसे उत्पन्न होता है, केवल स्वकालसे ही उत्पन्न नही होता । इसलिए वह स्वाभाविक नही है ॥४८॥

आगे इसी का समर्थन करते है--

कोई भव्य जीव तत्त्वचर्चा का श्रम न उठाकर किसी भी निमित्तसे मिथ्यात्व आदि सात कर्म प्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेसे तत्त्वकी श्रद्धा करता है । और कोई भव्य जीव तत्त्वचर्चा का क्लेश उठाकर मिथ्यात्व आदिका अभाव होनेसे तत्त्वकी श्रद्धा करता है ॥४९॥

विशेषार्थ--कहा भी है--

छुस सम्यग्दर्शन की प्राप्तिमे निसर्ग और अधिगम दो कारण है; क्योकि कोई पुरुष तो थोडे-से प्रयाससे सम्यक्त्वको प्राप्त करता है तथा कोई बहुत प्रयन्तसे सम्यक्त्वको प्राप्त करता हैड तथा जैसे शूद्रको वेद पढनेका अधिकार नही है । फिर भी रामायण, महाभारत आदिके समवलोकनसे उसे वेदके अर्थका स्वयं ज्ञान हो जाता है । उसी तरह किसी जीवको तत्त्वार्थका स्वयं ज्ञान हो जाता है ॥४९॥

अब सम्यग्दर्शनके भेद कहते है--

सराग और वीतरागके भेदसे सम्यग्दर्शनके दो भेद है । औपशमिक, क्षायिक और वेदकके भेदसे तीन भेद है । तथा आज्ञा सम्यक्त्व आदिके भेदसे दस भेद है ॥५०॥

सराग और वीतराग सम्यक्त्वका अधिकरण, लक्षण और उपलक्षण कहते है--

---

६ घ्यथा शूद्रस्य वेदार्थे शास्त्रान्तरसमीक्षणात् ।  
स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं तत्त्वार्थे कस्यचित्तथा ॥५॥

ज्ञे सरागे सरागं स्याच्छमादिव्यक्तिलक्षम ।

विरागे दर्शन त्वात्मशुद्धिमात्रं विरागकम ॥५१॥

ज्ञे--ज्ञातरि पुंसि । विरागे--उपशान्तकषायादिगुणस्थानर्तिनि । आत्मशुद्धिमात्रं--आत्मनो जीवस्य, शुद्धिः--दृग्मोहस्योपशमेन क्षयेण वा जनितप्रसादः, सैव तन्मात्रं न प्रशमादि । तत्र हि चारित्रमोहस्य सहकारिणोपायान्न प्रशमाद्यभिव्यक्तिः, स्यात् । केवलं स्वसंवेदनेनैव तच्छवेद्येत । उक्त च--

---

असंयत सम्यग्दृष्टि आदि रागसहित तत्त्वज्ञ जीवके सराग सम्यग्दर्शन होता है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्यकी व्यक्ति उसका लक्षण है--इनकेद्वारा उसकी पहचान होती है। वीतराग उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानवर्ती जीवोके वीतराग सम्यग्दर्शन होता है। यह सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम या क्षयसे होनेवाली आत्माकी विशुद्धि मात्र हाता है अर्थात् प्रशम संवेग आदि वहाँ नहीं होते; क्योंकि इनका सहायक चारित्र मोहनीय कर्म वहाँ नहीं रहता। केवल स्वसंवेदनसे ही सम्यक्त्व जाना जाता है ॥५१॥

विशेषार्थ--स्वामी विद्यनन्दने भी कहा है--

जैसा ही विशिष्ट आत्मस्वरूप श्रद्धान सरागी जीवामे होता है वैसा ही वीतरागी जीवामे होता है। दोनोके श्रद्धानमे अन्तर नहीं है, अन्तर है अभिव्यक्तिमे। सरागी जीवामे सम्यग्दर्शनकी अभिव्यक्ति प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भावसे होती है और वीतरागियो आत्विशुद्धि मात्रसे। प्रशम आदिका स्वरूप ग्रन्थकार आगे कहेगे। ये प्रशमादि एक-एक या सब अपनेमे स्वसंवेदनके द्वारा और दूसरोमे शरीर और वचनके व्यवहाररूप विशेष लिंगेक द्वारा अनुमित होकर सराग सम्यग्दर्शनको सूचित करते हैं। सम्यग्दर्शनके अभावमे मिथ्यादृष्टियोमे नहीं है। शंका--किन्ही मिथ्यादृष्टियोमे भी क्रोधादिका उद्रेक नहीं देखा जाता। अतः प्रशम भाव मिथ्यादृष्टियोमे भी होता है। समाधान--मिथ्यादृष्टयोके एकान्तवादमे अनन्तानुबन्धी मानका उदय देखा जाता है। और अपनी अनेकान्तात्मक आत्मामे द्वेषका उदय अवश्य होता है। तथा पृथिवीकाय आदि जीवोका घात भी देखा जाता है। जो संसारसे संविग्न होते हैं, दयालु होते हैं उनकी प्राणिघातमे निःशंक प्रवृत्ति नहीं हो सकती। शंका--सम्यग्दृष्टि भी हो और जीवतत्त्वसे अनजान हो यह बात तो परस्पर विरोधी है। जीवतत्त्व-विषयक अज्ञान ही मिथ्यत्व विशेषका रूप है। शंका--यदि प्रशमादि अपनेमे स्वसंवेदनसे जाने जाते हैं तो तत्त्वार्थोका श्रद्धान भी स्वसंवेदनसे क्यों नहीं जाना जाता? उसका प्रशमादिसे अनुमान क्यों किया जाता है? यदि तत्त्वार्थ श्रद्धान भी स्वसंवेदनसे जाना जाता है तो फिर प्रशमादिसे तत्त्वार्थ श्रद्धानका अनुमान किया जाता है, और तत्त्वार्थ श्रद्धानसे प्रशमादिका अनुमान नहीं किया जाता? यह बात कौन विचारशील मानेगा? समाधान--आपके कथनमे कोई सार नहीं है। दर्शनमोहके उपशम आदिसे विशिष्ट आत्मस्वरूप तत्त्वार्थ श्रद्धानके स्वसंवेद्य होनेका निश्चय नहीं है। प्रशम संवेग अनुकम्पाकी तरह आस्तिक्यभाव उसका अभिव्यंजक है और वह तत्त्वार्थ श्रद्धानसे कथंचित भिन्न है क्योंकि उसका फल है। इसीलिए फल और फलवानमे अभेद

६ सरागे वीतरागे च तस्य संभवतो जसा ।

प्रशमादेरभिव्यक्तिः शुद्धिमात्राच्च चेतसः त. श्लो. वा १।२।१२

सरागवीतरागात्मविषयं तद्विधा स्मृतम् ।

प्रशमदिगुणं पूर्वं परं त्वात्मविशुद्धिभाक ॥ [ सो. उ. पा. २२७ श्लो. ] ॥५१॥

अथ प्रशमादीनां लक्षणमाह-

प्रशमो रागादीनां विगमोऽनन्तानुबन्धिनां संवेगः ।

भवभयमनुकम्पाखिलसत्त्वकृपास्तिक्यमखितत्त्वमतिः ॥५२॥

रागादीनां-क्रोधादीनां साहचर्यान्मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोश्च, विगमः-अनुद्रेकः, अखिलतत्त्वमतिः-  
हेयस्य परद्रव्याहेर्हेयत्वेनोपादेयत्वेन प्रतिपत्तिः ॥५२॥

अथ स्वपरगतसम्यक्त्वसदभावनिर्णयः केन स्यादित्याह-

---

विवक्षा होनेपर आस्तिक्य ही तत्त्वार्थ श्रद्धान है । शंका-प्रशमादिका अनुभव सम्यग्दर्शनके समकालमें होता है इसलिए प्रशमादि सम्यग्दर्शनके फल नहीं है । समाधान-प्रशमादि सम्यग्दर्शनके अभिन्न फल हैं इसलिए सम्यग्दर्शनके समकालमें उनका अनुभव होनेमें कोई विरोध नहीं है । शंका-दूसरोंमें प्रशमादिका अस्तित्व सन्दिग्धासिद्ध है इसलिए उनसे सम्यग्दर्शनका बोध नहीं हो सकता ? समाधान-शरीर और वचनके व्यवहार विशेषसे दूसरोंमें प्रशमादिका निर्णय होता है यह हम कह आये हैं । अपनेमें प्रशमादिके होनेपर जिस प्रकारके कार्यादि व्यवहार विशेष निर्णीत किये जाते हैं, दूसरोंमें भी उस प्रकारके व्यवहार विशेष प्रशमादिके होनेपर ही होते हैं ऐसा निर्णय करना चाहिए । शंका-तो फिर जैसे सरागी जीवोंमें तत्त्वार्थ श्रद्धानका निर्णय प्रशमादिसे किया जाता है वैसे ही वीतरागियोंमें भी उसका निर्णय प्रशमादिसे क्यों नहीं किया जाता ? समाधान-नहीं, क्योंकि वीतरागीमें, तत्त्वार्थ श्रद्धान आत्मविशुद्धि मात्र है और समस्त मोहका अभाव हो जानेपर संशयादि सम्भव नहीं हैं । अतः स्वसंवेदनसे ही उसका निश्चय हो जाता है । दूसरोंमें निश्चयके उपाय यद्यपि सम्यग्दर्शनके चिन्ह प्रशम आदि होते हैं किन्तु प्रशम आदिके निर्णयके उपाय कार्यादि व्यवहार विशेष वहाँ नहीं होते । शंका-तो अप्रमत्त गुणस्थानसे लेकर सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान पर्यन्त प्रशमादिके द्वारा सम्यग्दर्शनका अनुमान कैसे किया जा सकता है ? क्योंकि वीतराग के समान अप्रमत्त आदिमें भी कोई व्यापार विशेष नहीं होता ? समाधान-नहीं, क्योंकि ऐसा नहीं कहा है कि सभी सरागी जीवोंमें सम्यग्दर्शनका अनुमान प्रशमादिसे होता है । यथायोग्य सरागियोंमें सम्यग्दर्शन प्रशमादिके द्वारा अनुमान किया जाता है और वीतरागियोंमें आत्मविशुद्धि मात्र है, यह कहा है ॥५१॥

प्रशम आदिका लक्षण कहते हैं-

अनन्तानुबन्धी अर्थात् बीजांकुर न्यायसे अनन्त संसारका प्रवर्तन करनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ तथा उनके सहचारी मिथ्यात्व और सम्यक मिथ्यात्वके अनुद्रेकको प्रशम कहते हैं । संसारसे डरनेको संवेग कहते हैं । नरकादि गतियोंमें कष्ट भोगनेवाले समस्त त्रस और स्थावर जीवोंपर दया अनुकम्पा है । समस्त स्व और पर द्रव्योंकी उपादेय और हेय रूपसे प्रतिपत्ति अर्थात् होय परद्रव्यादिको हेयरूपसे और उपादेय अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको उपादेय रूपसे श्रद्धान करना आस्तित्व है ॥५२॥

अपनेमें तथा दूसरोंमें सम्यक्त्वके सद्भावका निर्णय करनेका उपाय बतलाते हैं-

तैः स्वसंविदितैः सूक्ष्मलोभान्ताः स्वां दृशं विदुः ।  
प्रमत्तान्तान्यगां तज्जवाकचेष्टानुमितैः पुनः ॥५३॥

सूक्ष्मलोभान्ताः-असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिसूक्ष्मसाम्परायपर्यन्ता सप्त । प्रमत्तान्तान्यगां-  
असंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासंयतप्रमत्तसंयताख्यपरवर्तिनीम । तज्ज इत्यादि-तेभ्यः प्रशमादिभ्यो जाता वाक-  
वचनं, चेष्टा च कायव्यापारः । अयमर्थः-सम्यक्त्वनिमित्तकान प्रशमादीन स्वस्य स्वसंवेदनेन निश्चित्य  
तदविनाभविन्यौ च वाक्कायचेष्टे यथास्वं निर्णीय तथाविधि(चे)च परस्य वाकचेष्टे दृष्ट्वा ताभ्यां तद्धेतून  
प्रशमादिन निश्चित्य तैः परसम्यक्त्वमनुमिनुयात् ॥५३॥

अथ औपशमिकस्यान्तरडहेतुमाह-

शमान्मिथ्यात्वसम्यक्त्वमिश्रानन्तानुबन्धिनाम ।  
शुद्धेऽम्भसीव पडकस्य पुंस्यौपशमिकं भवेत् ॥५४॥

मिश्रं-सम्यगमिथ्यात्वम् ॥५४॥

अथ क्षायिकस्यान्तरडहेतुमाह-

तत्कर्मसप्तके क्षिप्ते पडकवतस्फटिकेऽम्बुवत ।  
शुद्धेऽतिशुद्धं क्षेत्रज्ञे भाति क्षायिकमक्षयम् ॥५५॥

---

असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान तकके जीवन अपने  
द्वारा सम्यक रीतिसे निर्णीत, अपनेमें विद्यमान सम्यक्त्वसे होनेवाले प्रशमादिके द्वारा अपने सम्यक्त्वको  
जानते हैं । तथा असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती दूसरे जीवोंके  
सम्यक्त्वको अपनेमें होनेवाले प्रशमादिसे जन्य वचन व्यवहार और काय व्यवहारके द्वारा अनुमान किये  
गये प्रशमादिकेद्वारा जानते हैं ॥५२॥

विशेषार्थ-आशय यह है कि सम्यक्त्वके होनेपर प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव  
अवश्य होते हैं । किन्तु ये भाव कभी-कभी मिथ्यादृष्टिमें भी हो जाते हैं । यद्यपि मिथ्यादृष्टि और  
सम्यग्दृष्टिके प्रशमादि भावोंमें अन्तर होता है । उसी अन्तरको समझकर यह निर्णय करना होता है कि ये  
प्रशमादि भाव यथार्थ हैं या नहीं । तभी उनकेद्वारा अपनेमें सम्यक्त्वके अस्तित्वका यथार्थ रीतिसे निश्चय  
करनेके लिए कहा है । जब ये भाव होते हैं तो वचन और कायकी चेष्टोंमें भी अन्तर पड जाता है ।  
आगेके गुणस्थान तो ध्यानावस्था रूप हैं । अतः छोटे गुणस्थानापर्यन्त जीवोंके ही सम्यक्त्वको अनुमानसे  
जाना जो सकता है ॥५३॥

औपशमिक सम्यक्त्वके अन्तरंग कारण कहते हैं ।

जैसे निर्मलीके डालनेसे स्फटिकके पात्रमें रखे हुए जलमें पंक शान्त हो जाती है-- नीचे बैठ जाती है और जल स्वच्छ हो जाता है । उसी तरह मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सम्यकमिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभका उपशम होनेसे जीवमें औपशमिक सम्यकदर्शन होता है ॥५४॥

क्षायिक सम्यक्त्वका अन्तरंग कारण कहते हैं-

जैसे पंकके दूर हो जानेपर शुद्ध स्फटिकके पात्रमें अति शुद्ध जल शोभित होता है, वैसे ही मिथ्यात्व आदि सात कर्मोंका सामग्री विशेषके द्वारा क्षय होनेपर शुद्ध आत्मामें अति शुद्ध अविनाशी क्षायिक सम्यक्त्व सदा प्रदीप्त रहता है ॥५५॥

क्षिप्ते-विश्लेषिते । स्फटिके-स्फटिकभाजने । अतिशुद्धं-त्यक्तशंकादिदूषणत्वेन शुद्धादौपशमिकातिशयेन शुद्धं प्रक्षोणप्रतिबन्धकत्वात् । अतएव भाति-नित्यं दीपत्ये कदाचित केनापि क्षोभयितुमशक्यत्वात् । तदुक्तम-

रूपैर्भयडरैर्वाक्यैर्हेतुदृष्टान्तदर्शिभिः ।

जातु क्षायिकसम्यक्तो न क्षुभ्यति विनिश्चलः ॥ [अमि. पं. सं. १/२९३]

क्षेत्रज्ञे-आत्मानि ॥५५॥

अथ वेदकस्यान्तरडहेतुमाह-

पाकाददेशघ्नसम्यक्त्वप्रकृतेरुदयक्षये ।

शमे च वेदकं षण्णामगाढं मलिनं चलम ॥५६॥

पाकात्-उदयात् । उदयक्षये-मिथ्यात्वादीनां षण्णामुदयप्राप्तानामुदयस्य निवृत्तौ । शमेति-तेषोमेवानुदयप्राप्तानामुपशमे सदवस्थालक्षणे ॥५६॥

विशेषार्थ-क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होकर पुनः लुप्त नहीं होता, सदा रहतो है; क्योंकि उसके प्रतिबन्धक मिथ्यात्व आदि कर्मोंका क्षय हो जाता है । कभी भी किसी भी कारणसे उसमें क्षोभ पैदा नहीं होता । कहा भी है-

भयंकर रूपोंसे, हेतु और दृष्टान्तपूर्वक वचन विन्याससे क्षायिक सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे तथा उदय प्राप्त मिथ्यात्व आदि छह प्रकृतियोंके उदयकी निवृत्ति होनेपर और आगामी कालमें उदयमें आनेवाली उन्हीं छह प्रकृतियोंका सदवस्थारूप उपशम होनेपर वेदक अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है । वह सम्यक्त्व चल, मलिन और आगाढ होता है ॥५६॥

विशेषार्थ-इस सम्यक्त्वको क्षायोपशमिक भी कहते हैं और वेदक भी कहते हैं । कार्मिक परम्परामें प्रायः वेदक नाम मिलता है । क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका सर्वत्र यही लक्षण पाया जाता है जो ऊपर ग्रन्थकारने कहा है, किन्तु वीरसेन स्वामीने धवलामें (पु. ५, पृ.२००) इसपर आपत्ति की है । वे कहते हैं-



सम्यक्त्व प्रकृतिके देशघाती स्पर्धकोंके उदयके साथ रहने वाला सम्यक्त्व परिणाम क्षायोपशमिक है । मिथ्यात्वके सर्वघाती उदयाभावरूप क्षयसे, उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे, और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयसे क्षायोपशमिक भाव कितने ही आचार्य कहते हैं । किन्तु वह घटित नहीं होता; क्योंकि उसमें अव्याप्ति दोष आता है । अतः यथास्थित अर्थके श्रद्धानको घात करनेवाली शक्ति सम्यक्त्व प्रकृतिके स्पर्धकोंमें क्षीण हो जाती है इसलिए उनकी क्षायिक संज्ञा है । क्षीण हुए स्पर्धकोंके उपशम अर्थात् प्रसन्नताको क्षायोपशम कहते हैं । उससे उत्पन्न होनेसे वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है यह घटित होता है ।

वह सम्यक्त्व अगाढ, मलिन और चल होता है ॥५६॥

अथ वेदकस्यागाढत्वं दृष्टान्तेनाचष्टे-

वृद्धपष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता ।  
स्थान एव स्थितं कम्प्रमगाढं वेदकं यथा ॥५७॥

स्थाने-विषये देवादौ ॥५७॥

अथ तदगाढतोल्लेखमाह-

स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते ।  
अन्यस्यासाविति भ्राम्यन् मोहाच्छाध्दोऽपि चेष्टते ॥५८॥

मोहात्-सम्यक्त्वप्रकृतिविपाकात् । श्राध्दः-श्रद्धावान् । चेष्टते-प्रवृत्तिनिवृत्तिं करोति ॥५८॥

अथ तन्मालिन्यं व्याचष्टे-

तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात् सम्यक्त्वकर्मणः ।  
मलिनं मलसडेन शुद्धं स्वर्णमिवोभदवेत् ॥५९॥

अलब्धमाहात्म्यं-अप्राप्तकर्मक्षपणातिशयम् । मलसडेन-शंकादीनां रजतादीनां च ससंगेण ॥५९॥

अथ तच्चलत्वं विवृणोति-

लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमिव स्थितम् ।  
नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं यथा ॥६०॥

नानेत्यादि-नानाप्रकारस्वविययदेवादिभेदेषु ॥६०॥

वेदक सम्यक्त्वकी अगाढताको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं-

जैसे वृद्ध पुरुषके हाथकी लाठी हाथ में ही रहती है उससे छूटती नहीं है, न अपने स्थानको ही छोडती है फिर भी कुछ काँपती रहती है। वैसे ही वेदक सम्यक्त्व अपने विषय देव आदिमें स्थित रहते हुए भी थोडा सकम्प होता है-स्थिर नहीं रहता ॥५७॥

इस अगाढताको बतलाते हैं-

मिथ्यादृष्टिकी तो बात ही क्या, श्रद्धावान सम्यग्दृष्टि भी सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे भ्रममें पडकर अपने बनवाये हुए जिनप्रतिमा, जिनमन्दिर वगैरहमें, यह मेरे देव हैं, यह मेरे देव हैं, यह मेरा जिनालय है तथा दूसरेके बनवाये हुए जिनमन्दिर-जिनालय वगैरहमें, यह अमुकका है, ऐसा व्यवहार करता है ॥५८॥

वेदक सम्यक्त्वके मलिनता दोषको कहते हैं-

जैसे स्वर्ण पहले अपने कारणोंसे शुद्ध, उत्पन्न होकर भी चाँदी आदिके मेलसे मलिन हो जाता है वैसे ही क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पत्तिके समय निर्मल होनेपर भी सम्यक्त्वकर्मके उदयसे कर्मकक्षयके द्वारा होनेवाले अतिशयसे अछूता रहते हुए शंका आदि दोषोंके संसर्गसे मलिन हो जाता है ॥५९॥

वेदक सम्यक्त्वके चलपनेको कहते हैं-

जैसे उठती हुई लहरोंमें जल एकरूप ही स्थित रहता है, लहरोंके कारण जलमें कोई अन्तर नहीं पडता, वैसे ही सम्यग्दर्शनके विषयभूत नाना प्रकारके देव आदि भेदोंमें स्थित रहते हुए भी चंचलताके कारण वेदक सम्यक्त्व चल होता है ॥६०॥ जैसे-

अथ तदुल्लेखमाह-

समेऽप्यनन्तशक्तित्वे सर्वेषामहंतामयाम ।

देवोऽस्मै प्रभुरेषोऽस्मा इत्यास्था सुदृशामपि ॥६१॥

अयं देवः-पार्श्वनाथादिः । अस्मै-उपसर्गादिनिवारणाय । प्रभुः-समर्थः । आस्था-प्रतिपत्तिदाढ्यम ॥६१॥

अथ आज्ञासम्यक्त्वादिभेदानाह-

आज्ञामार्गोपदेशार्थबीजसंक्षेपसूत्रजाः ।

विस्तारजावगाढासौ परमा दशधेति दृक ॥६२॥

आज्ञा-जिनोक्तागमानुज्ञा । मार्गः-रत्नत्रयविचारसर्गः । उपदेशः-पुराणपुरुषचरणाभिनिवेशः । अर्थः-प्रवचनविषये स्वप्रत्ययसमर्थः । बीजम-सकलसमंथ (समय) दलसूचनाव्याजम । संक्षेपः-आप्तश्रुतव्रतसमासलोपक्षेपः । सूत्रं-यनिजनाचरणनिरूपणपात्रम । विस्तारः-द्वादशाडचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णकविस्तीणश्रुतार्थसमर्थनप्रस्तारः । अवगाढा-त्रिविधस्यागमस्य निःशेषतोऽन्यतमदेशावगाहालीढा । असौपरमा-परमावगाढा अवधिमनःपर्ययकेत्रलाधिकपुरुषप्रत्ययप्ररुढा ॥६२॥

विशेषार्थ-दर्शनमोहके उपशमसे शास्त्राध्ययनके बिना केवल वीतराग भगवानकी आज्ञासे ही जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं । दर्शनमोहका उपशम होनेसे शास्त्राध्ययनके बिना रत्नत्रय रूप मोक्षमार्गमें रुचि होनेको मार्ग सम्यक्त्व कहते हैं । त्रेसठ शलाका पुरुषोंके चरितको सुननेसे जो तत्त्वश्रद्धान होता है वह उपदेश सम्यग्दर्शन है । किसी अर्थके द्वारा प्रवचनके विषयमें जो श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे अर्थ सम्यक्त्व कहते हैं । बीजपदोंसे होनेवाले तत्त्वश्रद्धानको बीज सम्यग्दर्शन कहते हैं । देव, शास्त्र,

१. कियन्तमपि यत्कालं स्थित्वा चलति तच्चलम ।  
वेदकंमलिनं जातु शडादयैर्यत्कलडयते ॥  
यच्चलं मलिनं चास्मादगाढमनवस्थितम ।  
नित्यं चान्तर्मुहूर्तादि षट्षष्टयब्धन्तवर्ति यत ॥  
अथ आज्ञासम्यक्त्वसाधनोपायमाह-  
देवोऽर्हन्नेव तस्यैव वचस्तथ्यं शिवप्रदः ।

धर्मस्तदुक्त एवेति निर्बन्धः साधयेद दृशम ॥६३॥

निर्बन्धः-अभिनिवेशः, साधयेत-उत्पादयेत ज्ञापयेत ॥६३॥

अथ वृत्तपत्रके न सम्यग्दर्शनमहिमानमभिष्टौति-तत्र तावदविनेयानां सुखस्मृत्यर्थं तत्सामग्रीस्वरूपे  
अनूदय संक्षेपेणानन्यसंभवतन्महिमानभिव्यक्तुमाह-

प्राच्येनाथ तदातनेन गुरुवाग्बोधेन कालारुण-  
स्थामक्षामतमश्छिदे दिनकृतेवोदेष्यताविष्कृतम ।  
तत्त्वं हेयमुपेयवत प्रतियता संवित्तिकान्ताश्रिता  
सम्यक्त्वप्रभुणा प्रणीतमहिमा धन्यो जगज्जेष्यति ॥६४॥

---

व्रत, पदार्थ आदिको संक्षेपसे ही जानकर जो तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है वह संक्षेप सम्यग्दर्शन है<sup>६</sup> मुनिके आचरणको सूचित करनेको आचार सूत्रको सुननेसे जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे सूत्र सम्यग्दर्शन कहते हैं<sup>६</sup> बाह अंग, चौदह पूर्व तथा अंग बाह्यरपु विस्तीर्ण श्रुतको सुनकर जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसे विस्तार सम्यग्दर्शन कहते हैं<sup>६</sup> अंग, पूर्व और प्रकीणक रूप आगमोंको पूरी तरहसे जानकर श्रद्धानमें जो अवगाढपन आता है उसे अवगाढ सम्यग्दर्शन कहते हैं<sup>६</sup> और केवलज्ञानके क्षरा पदार्थको साक्षात् जानकर जो श्रद्धामें परमावगाढपना होता है उसे परमावगाढ सम्यग्दर्शन कहते हैं<sup>६</sup> सम्यग्दर्शनके ये भेद प्रायः तत्त्वज्ञानके बाह्य निमित्तोंकी प्रधानतासे कहे हैं<sup>६</sup> सम्यक्त्वकी उत्पत्ति तो दर्शनमोहकी उपशमना आदि पूर्वक ही होती है<sup>६</sup> ६२ ॥

आगे आज्ञा सम्यक्त्वको प्राप्त करनेके उपाय बताते हैं-

अर्हन्त ही सच्चे देव हैं, उन्हींके वचन सत्य हैं, उन्हींके द्वारा कहा गया धर्म मोक्षदाता है, इस प्रकारका आग्रहपूर्ण भव सम्यग्दर्शनका उत्पादक भी होता है और ज्ञापक भी होता है अर्थात् उक्त प्रकारकी दृढ भवना होनेसे ही सम्यक्त्व उत्पन्न होता है था उससे ही यह समझा जा सकता है कि अमुक पुरुष सम्यग्दृष्टि है ॥ ६३ ॥

आगे पाँच वद्योंसे सम्यग्दर्शनकी महिमा बतलाते हैं । सर्वप्रथम शिष्योंको सुखपूर्वक स्मृति करानेके लिए सम्यग्दर्शनकी सामग्री और स्वरूप बताकर संखेपसे उसकी असाधारण महिमा प्रकट करते हैं<sup>६</sup>

जैसे सूर्यके सारथिकी शक्तिसे मन्द हुए अन्धकारका छेदन करनेके लिए सूर्यका उदय होता है उसी तरह काल खेत्र द्रव्यभावकी शक्तिके द्वारा मन्द हुए दश्रनमोहका छेदन करनेके लिए सम्यग्दर्शनकसे पहले अथवा उसके समकालमें गुरु अर्थात् महान् आगमान या गुरुके उपदेशसे होनेवाला ज्ञान उदित होता है । उससे उपादेयतत्त्वकी तरह हेय तत्त्वकी भी प्रतीति करनेवाला और सम्यक् ज्ञापितरूपी पत्नीसे युक्त सम्यग्दर्शन प्रति के द्वारा महत्त्वाको प्राप्त हुआ पुण्यशाली सम्यग्दृष्टि जीव मिश्रचयसे स्वचिनमय और व्यवहारसे जीवादि द्रव्योंके समुदायरूप लोकको वशमें करता है अर्थात् वह सर्वज्ञ और सर्वजगत्का भोक्ता होता है ॥ ६४ ॥

विशेषार्थ- उक्त शोकमें केवल काल शब्द दिया है । उससे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके योग्य काल-क्षेत्र-द्रव्य-भव चारों लेना चाहिए । उस कालको अरुण-सूर्यके सारथिकी उपमा दी है क्योंकि वह सूर्यके सारथिकी तरह दर्शनमोहरूपी अन्धकारको मन्द करनेमें

प्राच्येन--सम्यक्त्वोत्पत्तेः प्राग्भाविना । तदातने-सम्यक्त्वोत्पत्तिसमयसमयभविना । कालेत्यादि-सम्यक्त्वोत्पत्तियोग्यसमयसूर्यसारथिशतया (कृशी) कृतस्य मिथ्यात्वस्य तिमिरस्य च निरासार्थे । दिनकृता- आदितयन । उदेष्यता-सम्यग्भावाभिमुखेन उदयाभिमुखेन च । एतेन सम्यक्त्वोत्पत्तिमितिभूतो बोधः स्वरूपेण (अ-) सम्यक् समयक्त्वोत्पत्तिकनिमित्तत्वेनैव सम्यगिति न मोक्षमाकर्ग इत्युक्तं स्यात् । अतः सम्यक्त्वसहजन्मैव बोधो मोक्षमार्ग इति प्रतिपत्त्यम् । न चैवं तयोः कार्यकारणभवि (भाव) विरोधः, समसमयभवित्वेऽपि तयोः प्रदीपप्रकाशयोरिव तस्यसुघटत्वात् । तथ चोक्तम्-

'कारणकाग्रविधनं समकालं जायमानयोरपि हि ।

दीप्प्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥' [ पुरुषार्थ. ३४]

अत एव सम्यक्त्वाराधनानन्तरं ज्ञानाराधनोपदेशः । तदप्युक्तम् -

'सम्यग्ब्रह्मनं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः ।

ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥' [ पुरुषार्थ. ३३]

तेनैतत् सितपटाचार्यवचनमनुचितम् --

'चतुर्वर्गाग्रणीर्मोक्षो योगस्तरस्य च कारणम्  
ज्ञानश्रद्धानचारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः ॥' [ योगशास्त्र १/१५ ]

उपेयवत्--उपादेयेन स्वशुद्धात्मस्वरूपेण तुल्यम् । प्रतियता--प्र(ती) तिविषयं कुर्वता ।  
संवित्तिकानताश्रिता--सम्यग्ज्ञापितप्रियायुतेन । स एष सम्यक्त्वाननतरमाराध्यो मोक्षमार्गभूतो बोधः । न  
चानयोः पृथकाराधनंन संगच्छते लक्षणभेदेन भेदात् । उदुक्तम् --

निमित्त होता है । तथा सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेसे पहले और उसके समकालमें भी तत्त्वार्थ का बोध होना  
आवश्यक है , उसीको देशनालब्धि कहते हैं । यदि वह बोध परोपदेशमे हुआ हो तो उससे होनवाले  
सम्यग्दर्शनको अधिगमज कहते हैं और उसके बिना हुआ हो तो उसे निसर्गज कहते हैं । इसीको क्षयमें  
रखकर 'गुरुवाग्बोध' का अर्थ--गुरु अर्थात् महान्, वाग्बोध-आगमान-तत्त्वार्थ-बोध, और गुरुके वचनोंसे  
होनेवाला बोध, किया गया है । सम्यग्दर्शनसे पहले होनेवाले इस तत्त्वज्ञानको 'उदेष्यता' कहा है ।  
उदेष्यताका श्रद्धा है उदयके अभिमुख । किन्तु ज्ञानके पक्षमें इसका अर्थ है सम्यक्त्वके अभिमुख । क्योंकि  
सम्यग्दर्शनसे पहले होनवाला ज्ञान सम्यक् नहीं होता । अतः सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें निमित्त हुआ  
स्वरूपसे सम्यक् नहीं है किन्तु सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें निमित्त होनेस सम्यक् कहा जाता है । इसलिए वह  
मोक्षका मार्ग नहीं है किन्तु सम्यक्त्वके साथ होनेसे सम्यक् कहा जाता है । इसलिए वह मोक्षका मार्ग नहीं  
है किन्तु सम्यक्त्वके साथ होनेवाला ज्ञान ही मोक्षका मार्ग है । किन्तु सम्यक्त्वके साथ उत्पन्न होनेपर भी  
सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनमें कार्यकारणपना होनेमें कोई विरोध नहीं है । जैसे दीपक और प्रकाश  
समानकाल भवी हैं फिर भी उनमें कार्यकारणपना है वैसे ही सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनमें भी जानना ।  
कहा भी है-

'सम्यग्दर्शन और सम्यगान दोनों एक समयमें उत्पन्न होते हैं फिर भी दीपक और प्रकाशकी तरह  
उनमें कारण-कार्य-विधनसुघटित होता है ।'

इसीलिए सम्यग्दर्शनकी आराधनाके अनन्तर आराधनाका उपदेश है । कहा भी है--

'जिनेन्द्रदेव सम्यग्ज्ञानको कार्य और सम्यग्दर्शनको कारण कहते हैं । इसीए सम्यग्दर्शनके  
अनन्तर ही ज्ञानकी आराधना योग्य है ।'

'पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभवनोऽपि बोधस्य ।  
लाणीदेन यतो नानात्वं सीवत्यनयोः ॥' [ पुरुषाथ. ३२ ]

सम्यक्त्वप्रभुण--सम्यक्त्वं च तत्प्रभुश्च परमाधाध्यः तत्प्रसादैकसाध्यत्वात् सिद्धेः ।  
यत्तात्त्विक :--

'किंपलविण बहु सिद्धा जे णरवरा गए को ।  
सिज्झिहहिं जे विणविया तं जाणह सम्ममाहप्यं ॥' [ वा. अणु. ९० ]

सम्यक्त्वं प्रभुरिवेत्यत्रोक्तिलेशपखे प्रभुः स्वमते शब्रदिः, परमते तु पार्वतीपतिः रीपतिर्वा ।  
प्रणीतमहिमा--प्रवर्तितमाहात्म्यः । जेष्यति--वशीकरिष्यतिः सर्वज्ञः--सब्रजगद्भक्ता च भविष्यतीत्यर्थः ॥  
६४ ॥

अथ निर्मगुणांकृतसम्यक्त्वस्य निरतिशयमाहात्म्ययोनितया सर्वोत्कर्षवृत्तिमाशंसति--

अतः श्ताम्बराचार्य हेमचन्द्रका कथन उचित नहीं है । उन्होंने ज्ञानको प्रथम दिया हैं और  
सम्यग्दर्शनको क्षतिय ।

अतः मोक्षमार्गीतून सम्यग्ज्ञानकी आराधना सम्यग्दर्शनके अनन्तर करना चाहिए । शायद कहा  
जाये कि इन्हे दोनोंकी अलग आराधना नहीं हो सकती किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्षणके भेदसे  
दोनोंमें भेद है । कहा है--

'यद्यपि स्सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनका सहभवी है फिर भी उसकी अलग आराधना योग्य है क्योंकि  
लक्षणके भेदसे दोनोंमें भेद है ।

यहाँ सम्यग्दर्शनका प्रभु कहा है क्योंकि वह परम आराध्य है । उसीके प्रसादसे मुक्ति की प्राप्त  
होती है । कहा भी है--

'अधिक कहनेसे क्या ? अतीतमें जो नररेष्ठ मुक्त हुए और विषयमें जो मुक्त होंगे वह  
सम्यक्त्वका माहात्म्य जानो । इस प्रकार सम्यक्त्वकी महिमा जाननी चाहिए ।'

इस विषयमें दो आर्या हैं--उनका भाव इस प्रकार है-- तत्त्वकी परीक्ष अतत्त्वका निराकरणकरके  
तत्त्वके निश्चयको जन्म देती है । तत्त्वका निश्चय दर्शनमोहका अपशम आदि होनेपर तत्त्वमें रुचि उत्पन्न  
करता है और तत्त्वमें रुचि सर्वसुखको उत्पन्न करती है । अनन्तानुबन्धीकषय, मिथ्यात्व और  
सम्यक्मिथ्यात्वका उपशम होनेपर भी परिणामके द्वारा मिथ्यात्वकी शक्तिको रोक देनेवाला सम्यक्त्व होता  
है वह प्रशम आदिके द्वारा पहचाना जाता है ॥ ६४ ॥

जिसका सम्यक्त्व निर्मूल गुणोंसे सुशोभित है वह भव्यके निरतिशय माहात्म्यका धारक है अतः  
उसके सर्वोत्कर्षकी कामना करते है -- ?

१. तत्त्वपीरक्षाऽतत्त्वव्यवच्छिदा तत्त्वनिश्चयं जनयेत्<sup>१</sup>  
स च दृग्मोहशादौ तत्त्वरुचिं सा च सर्वसुखम्<sup>२</sup>  
शुभपरिणामनिरुद्धस्वरंस प्रशमादिकैरभिव्यक्तम्<sup>३</sup>  
स्यात् सम्यक्त्वमनन्ताबनुबन्धीमिथ्यात्वमिश्रामे<sup>४</sup>

यो रागादिरिपून्निरस दुसान्निर्दोषमुद्यन रथं

संवेगच्छलमास्थितो विकचयन् विष्वक्कृपाभोजिनीम्

व्यक्तास्तिक्यपथस्त्रिलाकमहितः पन्थाः शिवरीजुषा-

माराद्धृण्पृणतीपित्सतैः स जयतात् सम्यक्त्वतिमामङ्गुतिः ॥ ६५ ॥

रागादिरिपू(सप्त मिथ्यात्वादीन् षष्टिकोटिसहस्रसंख्यानमंदेहराक्षसाः ते हि सन्ध्यात्रयेऽपिसूर्य प्रतिबध्नन्ति निरस्य(उदयतः स्वरपता वा काललब्ध्यादिना व्युत्छेद्य, पखे ब्राह्मणैत्रिपात्य । मंदेहा हि सन्ध्योपासनाननतरदत्ताध्वरंजलिजलबिनदुवजैस्त्रिसन्ध्याकुलद्विजैत्रिपात्यनतं । दुरसानदुर्निवारान्द्य । निर्दोष(निःशकडादिमलम् दोषेति रात्रेरभावेन च विकलचर्नन्विकासयन् विष्वक्सब्रभूतेषु सर्वभूतले च । विशश्रीजुषां--अननतज्ञानादिलक्षणां मोक्षलक्ष्मीं प्रीत्या सेवितुमिच्छताम् । पखे मोक्षस्मिन् गच्छताम् । सिध्दा हि सूर्यमण्डलं भित्वा यानतीति केचित् ।

तथा चोक्तं संन्यासविधी--

संन्यसन्तं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः ।

एष मे मण्डलं भित्वा परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ [ ]

जो दुर्निवार रागादि शत्रुओंका विनाश करके उपरको उठते हुए संवेगरूपी रथपर आरूढ होकरसर्वत्र दयारूपी कमलिनीका विकास करता हुआ, आस्तिक्यरूपी मार्गको प्रकट करता है, तीनों लोकोंमें पूजाजाता है, मोक्षरूपी लक्ष्मीका प्रेमपूर्वक सेवन करनेके इच्छुकोंको उसकी प्रापितका उपाय है, ति जो आरधकोंको इच्छित पदार्थोंसे सन्तुष्ट करता है वह सम्यक्त्वरूपी सूर्य जयवन्त हो, अपने समस्त उत्कर्षके साथ शोभित हो ॥ ६५ ।

विशेषार्थ(यहाँ सम्यग्दर्शनको सूर्यकी उपमा दी है, सूर्य भूखसे पीडित जनोंका सर्वोत्कृष्ट आराध्य है तो सम्यग्दर्शन मुमुक्षु जनोंका परम आराध्य है । सम्यग्दर्शनको दुर्निवारिमिथ्यात्व आदि सात कर्मशत्रु घेरे रहते हैं तो हिन्दू मान्यताके अनुसार तीनों सन्ध्याओंमें सूर्यको साठ कोटि हजार राक्षस घेरे रहते हैं । काललब्धि आदिके क्षरा सम्यग्दर्शनकसे उन कर्म शत्रुओंका विनाश होता है तो ब्रह्मणोंके क्षरा किये जानेवाले न्ध्यावनदनके अन्तमें हदी जानेवाली अध्वरंजलिके जलविन्दुरूपी वज्रसे सूर्य उन राक्षसोंको मार गिराता है तब सूर्य रथमें सवार होकर सम्मस्त भूतल पर कमलिनियोंको विकसित करता है तो सम्यग्दर्शन भी आगे बढ़कर वैराग्यरूपी रथपर सवार हा समस्त प्राणियोंमे दयाको विकसित करता है । रथ आकाशको लौघता है तो संवेगसे शेष संसार सुपूवक लौघा जाता है । अतः संवेगका रथकी उपमा दी है सूर्य दोशा अथार्त् रात्रिका आीव होनेसे निर्दोष है तो सम्यग्दर्शन शंकादि दोषोंसे रहित होनेसे निर्दोश है सूर्य मार्गको आलोकित करता है तो सम्यग्दर्शन आस्तिक्य भावको प्रकट करता है आस्तिक्यको माग्रकी उपमा दी है क्योंकि वह मार्गकी तरह इष्ट सानकी प्राप्तिका हुतु है सम्यग्दर्शन भी त्रिलाकजपूज्य है और सूर्य भी । सम्यग्दर्शन कीभी मोक्षकी प्रापितका पथ(उपाय है और सूर्य भी मोक्षस्थानमें आनेवालोंके लिए पथ है क्योंकि किनहींका मत है कि मुक्त जीव सूर्य-मण्डलका भेदन करके जाते है ।

लोकेऽपि(

णमह परमेसरं त कपपंते पाविउण रविबिम्बं

णिव्वाणजणयच्छिदं जेण कयं छारछाणणयं । [ ]

पूणति(प्रीणयति, पूण प्रीणने तुदादिः ॥ ६५ ॥

अथ पुण्यमपि सकलकल्याणनिर्माणे सम्यक्त्वानुग्रहादेव समिर् भवतीति प्रपिदयितुमाह(

वृक्षाः कण्टकिनोऽपि कल्पतरवो ग्रावापि चिन्तामणिः.

पुण्याद् गौरपि कामोनुरथवा तननास्ति नीलून् वा

भाव्यं भव्यमिहाडिनां मृगयते यज्ज्त्तु तद्भ्रुकुटिं,

सम्यग्दश्रनवेधसो यदि पदच्छायामपाच्छंनित ते ॥ ६६ ॥

ग्रावा(सामान्यपाषाणः । भाव्यं(भविष्यति । भव्यं(कल्याणम् । तद्भ्रुकुटिं (पुण्यभ्रुकुटिं । इयमत्र भवना(ये सम्यग्दर्शनमाराधयन्ति तेषां तादृष्णापुण्यमास्त्रवति येन त्रैकाल्ये त्रैलोक्येऽपि ये तीर्थकरत्वापदपर्यन्ता अभ्युदयास्त संपाद्यन्ते । भ्रुकुटिवचनमत्रेदं लक्षयति यो महाप्रभुस्तदाज्ञां योऽतिक्रमति स तं प्रति क्रोधाद् भ्रुकुटिमारचयति । न च सम्यक्त्वसहचारिपुण्यं केनापि संपादयितुमारब्धेनाभ्युदयेन लडघेत सर्वोऽप्यभ्युदयस्तदुदयानन्तरमेव संपद्यत इत्यर्थः । पदच्छायां(पतिष्ठां सम्पदरयं ॥ ६६ ॥

संनयासविधिमें कहा भी है(

द्विजका संन्यास लेते देखकर सूर्य आपने स्थानसे मानो यह जानकर चलता है कि यह मेरे मण्डलका भेदन करके परमब्रह्मको प्राप्त हुआ जाता है । इस प्रकार सम्यग्दर्शन सूर्यके समान है ॥ ६५ ॥

पुण्य भी सम्पूर्ण कल्याणको करनेमें सम्यक्त्वके अनुग्रहसे ही समिर् होता है, यह कहते हैं(

यदि वे प्राणी सम्यग्दश्रनरूपी ब्रह्माके चरणोंका आरय लेते हैं तो पुण्यके उदयसे बबूल आदि कांटेवाले वृख भी कल्पवृक्ष हो जात हैं, सामान्य पाषाण भी चिन्तामणिरत्न हो जाता है साधारण गाय की भी कामधेन हो जाती है । अथवा इस लोक में प्राणियोंका ऐसा कोई कल्याण न हुआ, न है, न होगा जो की भी पूण्यकी भ्रुकुटिकी अपेक्षा करे ॥ ६६ ॥

विशेषार्थ(इका आशय है कि जो सम्यग्दश्रनकी आराधना करते हैं उना ऐसा पुण्योदय होता है जिससे तीनो कालों ओर तीनो लोकोंमें भी तीर्थकरपदपर्यन्त जितने अभ्युदय हैं वे सब प्राप्त होते हैं । भ्रुकुटि शब्द बतलाता है कि जो अपने महान् स्वामीकी आका उलंघन करता है उसके प्रति उसका स्वामी क्रोधसे भी चढाता है किन्तु सम्यक्त्व के सहचारी पुण्यकी आका उल्लंघन कोई भी अभ्युदय नहीं कर सकता । सम्यक्त्वके सहचारी पुण्यका उदय होते ही सब अभ्युदय स्वतः प्राप्त हाते हैं । सम्यग्दर्शनको ब्रह्माकी उपमा दी है क्योंकि वह सर्व पुरुषार्थक निर्माणमें समर्थ है । इसीसे शास्त्रोंमें सम्यग्दृष्टिके पुण्यको मोक्षका भी कारण कहा है । इसके यथार्थ आशको न समझनेवाले सम्यग्दर्शनके माहात्म्यको भुलाकर केवल पुण्यके ही माहात्म्यको गाने लगते हैं । इससे भ्रम पैदा होता है । पुण्य तो कर्मबन्धन है और बन्धन मोक्षका कारण नहीं हो सकता यह बन्धन सम्यग्दर्शनसे नहीं होता किन्तु सम्यक्त्वके साथ रहनेवाले शुभरागसे होत है सम्यग्दर्शन तो उसका निवारक होता है ॥ ६६ ॥



अथ सुसिद्धसम्यक्त्वस्य न पंरंम विपदपि संपद् भवति किं तहि तन्नामोच्चारिणोऽपि विपद्भिः सद्यो मुच्यन्त इति प्रकाशयति(

सिंहः फेरुरिभः स्तःभोऽग्निरुदकंभीष्मः फणी भूलता

पाथोधिः स्थलमनदुका मणिसरश्चौरश्च दासोऽञ्जासा ।

तस्य स्याद् ग्रहशाकिनीगदपिरपुप्रायाः पराश्चापद-

स्तननाम्नापि वियनित यस्य वदते सदृष्टिदेवी हृदि ॥ ७८ ॥

फेरुःश्रृगालः भूलता(गण्डूपदः । अनदकः(श्रृखला । मणिसरः( मुक्ताफलमाला । अञ्जसा( झगिति परमार्थेन वा ॥ वियनित( विनश्यनित । वदते(वदितुं दीप्यते सुसिद्धा भवतीत्यर्थः दीप्युपाक्तिः ानेहविमत्युपमंत्रणे वद इतयात्मनेपदम्य ॥ ६७ ॥

अथ मुमुक्षून् सम्यग्दर्शनाराधनायां प्रोत्साहयन्द् दुर्गतिप्रतिबन्धपरस्सरं परमाभ्युदयसाधनाडत्वं साखानमोक्षाडत्वं च तस्य द.ढयितुमाह(

परमपुरुषस्याद्या शक्तिः सुदृग् वरिवस्यतां

नरि शिवरमासाचीक्षां या प्रसीदति तनवती ।

कृतपरपुरभ्रंशं क्लृप्तप्रभाभ्युदयं यया

सृजति नियतिः फेलाभेक्त्रीकृतत्रिजगत्पतिः ॥ ६८ ॥

वरिवस्यतां(हे मुमुक्षुवो युष्माभिराराध्यताम् । नरे(पुरुषे । शिवरमासाचीखं(मोक्षलक्ष्मी कटाखम् । प्रसीदति(शंकादिमलकलक्कविकलतया प्रसन्ना भवति । तनवती(दीर्घाकुव्रती । मोक्षलक्ष्मी तभदवचल्लभ्यां द्वित्रीवलभ्यां वा कुर्वतीत्यर्थः । कृतपरपुरभ्रंशं(परेण(सम्यक्त्वापेक्षा मिथ्यातवेन सम्पाद्यानि

---

आगे कहते हैं कि जो सम्यग्दर्शनका अच्छी तरहसे सिद्ध कर चुके हैं उनकी विपत्ति भी संपत्ति हो जाती है । इतना ही नहीं, किन्तु उनका नाम लेनेवाले भी विपत्तियोंसे तत्काल मुक्त हो जाते हैं(

जिस महात्माके हृदयमं सम्यग्दर्शन देवता बोलता है उसके लिए भयंकर सिंह भी श्रृगलाके समान हो जाता है अर्थात् उसके हुंकार मात्रसे भयंकर सिंह भी डरकर भागा जाता है, भयंकर हाथी जड हो जाता है अर्थात् क्रूर हाथी का बकरेकी तरह कान पकडकर उसपर वह चढ जाता है, भयंकर आग कीभी पानी हो जाती है, भयंकर सर्व केंचुआ हो जाता है अर्थात् केंचुआकी तरह उसे वह लांघ जाता है, समुद्र स्थल हो जाता है अर्थात् समुद्रमें वह स्थलकी तरह चला जाता है, साँकल मोतीकी माला बन जाती है, चोर उसका दास बन जाता है । अधिक कया, उसक नामका उच्चारण करने मात्रसे भी ग्रह, शाकिनी, ज्वरादि व्याधियाँ और शत्रु वर्गरह जैसी प्रकष्ट विपत्तियाँ भी नष्ट हो जाती हैं ॥ ६७ ॥

मुमुक्षुओंको सम्यग्दर्शनकी आराधनामें प्रोत्साहित करते हुए, सम्यग्दर्शन दुर्गतिके निवारणपूर्वक परम अीयुदयके साधनका अंग और साखात्त मोक्षका कारण है, यह दृढ करनेकेलिए कहते हैं।

हे मुमुक्षुओ ! परम पुरुष परमात्माकी आद्य(प्रधानभूत शक्ति सम्यग्दर्शनकी उपासना करो, जो मनुष्यपर शवनारीके कटाक्षोंको विस्तृत करती हुई कश्शकादि दोषोंसे रहित हानेसे प्रसनन होती है कि जिसके क्षरा प्रीरावित हुई नियति अर्थात् पुण्य मियित्वके द्वक्षरा प्रापत होनेवाले एवेन्द्रियादि शरीरोंकी उत्पत्तिको रोकर ऐसा अभ्युदय देती है जो तीनों लोकोंके स्वामियोंको उच्छिष्टभोजी बनाता है ॥ ६८ ॥

पुराणि शीरराणि एवेन्द्रियादिकायाः । पखे(शुत्र । पखे(शत्रु । तेषां भ्रंशः(कायपक्ष्णेऽप्रादुर्भवो नगरपखे च विनाशः । कृतोऽसौ यत्राभ्युदयसर्जनकर्मणि सम्यक्त्वाराधका हि जीवः सम्यक्त्वग्रहात्तदा प्रागबध्दायुष्कश्चेत्तदा नरकादिषु न प्राप्नोति । बध्दायुष्कोऽप्यधोनरकभूमिषट्कादिषु नोत्पद्यते । तथ चोक्तम्।

छसु हेड्विमासु पुढविसु जोइसि-वण-भवण-सव्वइत्थीसु ।

वारस मिच्छुववाए सम्माइड्डी ण उववणा ॥ [ पं.सं. १/१९३]

एतेनेदमपि योगमतं प्रत्युक्तं भवति।

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शृणुशुभम् ॥ [ ]

न चोपभोगात्तदा प्रक्षये कर्मान्तरस्यावशयंभावात् संसारानुच्छेदः, समाधिबलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्यावगतकर्मसामर्थ्योत्पादितयुगपदशेषशरीरद्वारावापताशोभोगस्योपात्तकर्मप्रख्यातत्, भाविकर्मोत्पत्तिनिमित्तमित्थ्याानजनितानुसनानविकलत्वाच्च संसारच्छेदोपपत्तेः । अनुसंधीयते गतं चित्तमनेनेत्यनुसंधानं रागद्वेषाविति । क्लप्तप्रभाआतिप्रीवातिशया नियतिः(दैवं, तच्चेह पुण्यं, पक्षे महेश्वरशक्तिविशेषः । तत्राद्यशक्तिर्हि पाव्रती तथा चाहितातिशया सती नियतिर्भक्तान्द्य प्रति परमाभ्युदयं करोतीति भावः । फफेलेत्यादि फेला(भुक्तोच्छिष्टम् । सा चेह सुरेन्द्रादिविभूतिः । तां हि भुक्त्वा त्यक्त्वा च सम्यक्त्वाराधकाः परमाधर्हन्त्यलखमीलक्षणं परमाभ्युदयं लब्ध्वा शिवं लाभनते । तथा चोक्तम्।

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं राजेन्द्रचक्रमवनी न्द्रशिरोऽचनीयम् ।

धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरूपत भव्यः ॥ [ रत्न. श्रा. ४१ ]

फेलां भोक्तारः ताच्छीलयादिना भुञ्जानाः फेलाभोक्तारः, अतथाभूतास्तथाभूताः कृता जगत्पतयः ऊर्ध्वमध्याधोभुवनस्वामिनो यत्र यया वा ॥ ६८ ॥

---

विशेषाथ--जैसे शैवधर्ममें मादेव परमपुरुष हैं और उनकी आद्या शक्ति पार्वती है । उस शक्तिसे प्रीरावित होर नियति शुत्रुओंके नगरोंको नष्ट करती है । उसी तरह जैनधर्ममें परमुपुरुष परमात्मा है और उसकी आद्य या प्रधान शक्ति सम्यग्दर्शन है । उस सम्यग्दर्शनसे प्रभावित नियति अर्थात् पुण्य एवेन्द्रियादि

पर्यायमें जनमको रोकता है । आशय यह है कि सम्यक्त्वका आराधक जीव सम्यक्त्व ग्रहणसे पहले यदि आगामी भवकी आयुका बन्ध नहीं करता तो वह मरकर नरक आदि दुर्गतिमें नहीं जाता । यदि आयुबन्ध कर लेता है तो नीचेके छह नरकों आदिमें जनम नहीं लेता । कहा भी है(नीचेके छह नरकोंमें, ज्योतिषीदेव, व्यनतरदेव, भवनवासी देवोंमें और सब स्त्रियोंमें अर्थात् तिर्यची, मानुषी और देवी इन बारह मिथ्योपपादमें अथर्त्थ जिनमें मिथ्यादृष्टी जीव ही जन्म लेता है, सम्यग्दृष्टिका जनम नहीं होता । इससे नेयायिक वैशेषिकोंका यह मत भी खण्डित होता है कि सैकड़ों करोड कल्प बीत जानेपर भी भोगे बिना कर्मोंका खय नहीं होता किये हुए शुभ और अशुभ कर्म अवश्य ही भोगने पडते हैं । इस तरह सम्यक्त्वके प्रभावसे दुर्गतियोंका नाश होता है; नरेन्द्र-सुरेन्द्र आदिकी विभूतियाँ प्राप्त होती हैं । सम्यग्दृष्टि जीव उनहें भी भागर छोड देते है और परम आर्हन्त्य लखमरुप परम अभ्युदयको प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करते हैं । आचार्य समन्तभद्रने कहा है(जिनेन्द्रका भक्त भव्य सम्यग्दृष्टि अपरिमित माहात्म्यवाली देवेन्द्रोंके समूहकी महिमाको, राजाओंके श्रांसे पूजनीय राजेन्द्रचक्र अर्थात् चक्रवर्ती पदका, और समस्त लोकोंको निम्न करनेवले धर्मेन्द्रचक्र अर्थात् तीर्थकर पदको प्राप्त करके मोक्षको प्राप्त करता है ॥ ६८ ॥

अथ एवमनन्यसामान्यमहिमा सम्यक्त्वपरमप्रभुः कथमाराध्यत इति पृच्छन्त प्रत्याह(

मिथ्यादृग यो नृतत्त्वं रथति तदुदितं मन्यतेऽतत्त्वमुक्तं,

नोक्तं वा तादृ.गात्माऽऽभवमयममृतेतीदमेवागमार्थः

निग्रन्थं विश्वसारं सुविमलमिदमवामृताध्येति तत्त्व-

रदामाधाय दोषोज्झनगणविनयापादनाभ्यां प्रपुष्येत् ॥ ६९ ॥

मिथ्यादृकक्स मिथ्याद.र्भिवतीति संबन्धः । उदितं(यो युक्त्या इत्यादना प्रबन्धेन प्रागुक्तम् । उक्तं(उपदिष्टम् । तथा चोक्तम्(

मिच्छाङ्गी जीवो उवङ्गं पवयणं ण सदहदि ।

सदहद असम्भावं उवङ्गं अणुवङ्घटं वा ॥ ([ गो. जी. १८ ]

तादृकमिथ्यादृक् सन् । आभवं(आससारम् । अमृतामृतः । इति हेतोः तत्त्वश्रद्धां प्रपुष्येदिति संबन्धः । आगमाथः(सकलप्रवचनवाच्यम् । निग्रन्थं(ग्रन्थन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रन्थाः( मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि तेभ्यो निष्प्रान्तं रत्नत्रयमित्यर्थः । तदुक्तम्(

णिगन्थं पव्ययणं इणमेव अञ्जुत्तरं मुपति ( रं-सुपरि-) सुध्द ।

इणमेव मोक्खमग्गो(त्ति) मदी कायव्विया तम्हा ॥ [ भ. आरा. ४३]

अमृताध्वा(मोक्षमार्गः । अत्र इति शब्दः स्वरुपार्थः । मिथ्यात्वादित्रयं हेयं तत्त्वं(रत्नत्रयं चो उपादेयमित्येवंविधप्रतिपत्तिरुपमित्यथः । आधाय(अनतःसनिनहितां कृत्वा । दोषः(स्वकार्यकारित्वहायनं स्वरुपालकडरणं वा । प्रपुष्येतप्रकृष्अपुष्टिं नयेत क्षायिकरुपां कुर्यादित्यर्थः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार असाधारणमहिमावाले सम्यक्त्वरूप परम प्रभुकी आराधना कैसे की जाती है इसका उत्तर देते हैं(

मैं इस अनुपचरित ज्ञानका विजयकभूत आत्मा अनादिकालसे वैसा मिथ्यादृष्टि होकर जनममरण करताआता है । इसलिए मुमुक्षुको यह प्रतीयमान निर्ग्रन्थ ही सकल आगमका सार है, सकल जगत्में उत्कृष्ट है, अत्यन्त शुद्ध है, अमृतका(जीवन्मुक्ति और परममुक्तिका माग है, इस प्रकारकी तत्त्वरध्दाको अनतःकरणमें समाविष्ट करके उसे दोषोंके त्याग और दोषोंसे विपरीत गुणों तथा विनयकी प्राप्तिकेद्वारा खूब पुष्ट करना चाहिए अर्थात् उसे क्षायिकी सम्यक्त्वरूप करना चाहिए ॥ ६९ ॥

विशेषार्थ(जो पीछे तेईसवें श्लोक क्षरा कहे गये तत्त्वको नहीं मानता और उपदिष्ट या अनुपदिष्ट अतत्त्वको मानता है वह मिथ्यादृष्टि है । कहा भी है(मिथ्यादृष्टि जीव उपदिष्ट प्रवचनका श्रध्दान नहीं करता । किन्तु उपदिष्ट या अनुपदिष्ट अतत्त्वका श्रध्दान करता है । अस्तु । यहाँ मिथ्यादृष्टिका स्वरूप और मिथ्यात्वका फल बतलकाकर तत्त्वश्रध्दाका रूप बतलाया है तथा उसे पुष्ट करनेकी प्रेरणा की है । एकमात्र तत्त्वकी अश्रध्दा और अतत्त्वकी श्रध्दारूप मिथ्यात्वके कारण ही यह आत्मा अनादिकालसे संसारमें जन्ममरण करता है इसलिये अतत्त्वकी श्रध्दा छोडकर तत्त्वकी श्रध्दा करनी चाहिए । वह तत्त्व है निर्ग्रन्थ । जो संसारको लम्बा करता है वह है ग्रन्थ(मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, उससे जो रहित हो वह है निर्ग्रन्थ अर्थात् रत्नत्रय(सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र । मिथ्यात्व आदि हेय हैं, रत्नत्रय उपादेय हैं(इस प्रकारकी दृढ श्रध्दा ही तत्त्व श्रध्दा है । कहा है(

अथ सम्यक्त्वस्योद्योतेनाराधनां विधापयिष्यन् मुमुक्षूंस्तदतिचारपरिहारे व्यापरयति । दुःखेत्यादि (

दुःखप्रायभवोपायच्छेदोद्युक्तापकृष्यते ।

दृग्लेश्यते वा येनासौ त्याज्शः शकडादिरत्ययः ॥ ७० ॥

दुःखं प्रायेण यस्मिन्नसौ भवः संसारस्तस्योपायः-कर्मबन्धः, अपकृष्यते स्वकार्यकारित्वं हाप्यते ।

उक्तं च-

नाडहीनमलं चेतु दर्शनं जनमसंततिम् ।

नहि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहनित विषवेदनाम् ॥ ( [ रत्न. श्रा. २१ ]

लेश्यते(स्वरूपेणात्पीक्रियते । अत्ययः(अतिचारः ॥ ७० ॥

अथ शकडालक्षणमाह(

विश्वं विश्वविदाज्ञयाभ्युपयतः शकडास्तमोहोदयाजृ-

ज्ञानावृत्युदयानमतिः प्रवचने दोलायिता संशयः ।

दृष्टिं निश्चयमाश्रितां मलिनयेत् सा नाहिरज्ज्वादिगा,

या मोहोदयसंशयात्तदरुचिः स्यात्सा तु संशीतिदृक् ॥ ७१ ॥

विश्वं(समस्तवस्तुविस्तारम् । अभ्युपयतः(तथा प्रतीतिगोचरं कुर्वतः ।  
अस्तमोहोदयातदश्रनमोहोदयरहितात् । प्रवचने(सवीकृतत्वपे । निश्चयं(प्रत्ययम् सा(प्रवचनगाचरा  
शडका । अहि-

---

निर्ग्रन्थ-रत्नत्रय ही प्रवचनका सार है, वही लोकोत्तर और अत्यन्त विशुद्ध है । वही मोक्षका मार्ग  
है, इसलिए इस प्रकारकी श्रद्धा करनी चाहिए । और उस रदाको पुष्ट करना चाहिए ॥ ६९ ॥

सम्यग्दर्शनके उद्योतकेक्षरा आराधना करनेकी इच्छासे मुमुक्षुओंको उसके उतीचारोंको त्यागनेका  
उपदेश करते हैं(

यह संसार दुःखबहुल है । इस दुःखका साक्षत् कारण है कर्मबन्ध और परम्परा कारण हैं  
मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र । उनका अत्यन्त विनाश करनेमें समर्थ है सम्यग्दर्शन । किन्तु  
शंका आदि अतीचार उस सम्यग्दर्शनको अपना कार्य करनेमें कमजोर बनाते हैं तथा उसके स्वरूपमें कमी  
लाते हैं अतः उन्हें छोड़ना चाहिए ॥ ७० ॥

विशेषार्थ(सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा रखते हुए अनतरंग व्यापार या बाह्य व्यापारके द्वारा उसके एक  
अंशके खण्डित होनेको अतीचार कहते हैं । कहा भी है(निःशंकित आदि अंगोसे हीन सम्यग्दर्शन जनमकी  
परम्पराका छेदन करनेमें असमर्थ है; क्योंकि अक्षरसे हीन मनत्र सर्पादिके विषकी वेदनाको दूर नहीं  
करता ॥ ७० ॥

शंका नामक अतीचारका स्वरूप कहते हैं(

दर्शन मोहके उदयका अभाव होनेसे, सर्वज्ञकी आज्ञासे विश्वको(समस्त वस्तु विसतारको(यह  
ऐसा ही है इस प्रकार मानते हुए ज्ञानावरण कर्मके उदयसे सर्वज्ञके द्वारा कहे गये तत्त्वमें यह है या यह  
नहीं है इस प्रकारकी जो डगमगाती हुई प्रतिपत्ति होती है उसे संशय कहते हैं । उसे ही शंका नामक  
अतीचार कहते हैं । वह प्रवचन विषयक शंका निश्चयसे(वस्तु स्वरूपके यथार्थ प्रत्ययसे सम्बन्ध रखनेवाले  
सम्यग्दर्शनको मलिन करती है । किन्तु यह साँप है या रस्सी है इस प्रकारकी शंका सम्यग्दर्शनको मलिन  
नहीं करती । किन्तु दर्शन मोहके उदयसे होनेवाले सन्देहसे जो प्रवचनमें अश्रद्धा होती है, वह संशय  
मिथ्यात्व है ॥ ७१ ॥

रज्ज्वादिगा(अहिर्वा रज्जुर्वेति, स्थाणवा पुरुषो वेत्यादिका ।  
मोहोदयसंशयात्(दार्नमोहोदयसंपादितसंदेहात् । तदरुचिः(प्रवचनाश्रद्धा ।  
संशीतिदृक्संशयमिथ्यात्वनामातिचारः स हि एकदेशभडः ॥ ७१ ॥

अथ शकडानिराकरणे नियुडक्ते(

प्रोक्तं जिनैर्न परथेत्युपयनिनदं स्यात्

किंनान्यदित्थमथवाऽपरथेति शकडाम् ।

स्वस्योपदेष्टुरुत कुण्डतयानुषक्तां

उपयन्( गृह्णन् । इदं(जिनोक्तं धमोदितत्त्वं अन्यतवैशेषिकोक्तं द्रवयगुणादि, नैयायिकोक्तं प्रमाणप्रमेयादि, सांख्योक्तं प्रधानपुरुषादि, बौद्धोक्तं दुःखसमुदयादि । इत्थं(सामानयविशेषात्मकत्वेन प्रकारेण । अपरथा(भेदैकानतादिप्रकारेण । कुण्ठतया(स्वस्य मतिमान्द्येन गुर्वादेर्वचनानयेन अनाचरणेन वा । सद्युक्तितीर्थं(युक्त्यागमकुशलमुपाध्यायं युक्त्यनुगृहीतमागमं वा, तयोरेव परमाथतीर्थत्वात् । तदुक्तम्(

जिनश्रुततदाधारौ तीर्थ द्वावेव तत्त्वतः ।

संसारस्तीर्यतं ताभ्यां तत्सेवी तीर्थसेवकः ॥ [ ]

अवगाह्य(अनतःप्रविश्य । मृज्यात्(शोधयेत् ॥ ७२ ॥

विशेषार्थ(शंकाका अर्थ भी संशय है । यह साँप है या रस्सी है, टूँट है या पुरुष है इस प्रकारकी चलित प्रतीतिको संशय कहते हैं । इस प्रकारका संशय तो सम्यग्दृष्टिको भी होता है, कुठ अंधेरा होनेके कारण ठीक-ठीक दिखाई न देनेसे इस प्रकारका सन्देह होता है । यह सन्देह श्रद्धामूलक नहीं है अतः इससे सम्यग्दर्शनमलिन नहीं होता । दर्शन मोहके उदयके अभवमें सब्रजोक्त तत्त्वोंकी श्रद्धा करते हुए भी ज्ञानावरण कर्मके उदयसे जो सन्देहरूप प्रतीति होती है वह सन्देह शंका नामक उतीचार है । उससे सम्यग्दर्शन मलिन होता है । इसीसे यह कहा है कि अच्छे समझानेवालेके न हानेसे, अपनी बुद्धि मन्द होनेसे और पदाथके सूक्ष्म होनेसे यदि कोई तत्त्व समझमें न आता हा तो उसमें सन्देह न करके सर्वज्ञ प्रणीत आगमको ही प्रमाण मानकर गहन पदार्थका श्रद्धान करना चाहिए । तो सम्यग्दर्शन अज्ञान मूलक प्रवचन विषयक शंकासे मलिन होता है । किन्तु यदि शंका अश्रद्धानमूलक हो, उसकेमूलमें दर्शन मोहका उदय कारण हो तो उसे संशय मिथ्यात्व कहते हैं । संशय मिथ्यात्वके रहते हुए ता सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता । वह अतीचार नहीं है । अतीचार तो एक देशका भी होनेपर होता है ॥ ७१ ॥

इस शंका अतीचारके निराकरणकी प्रेरणा करते हैं(

वीतराग सब्रज देवकेक्षरा कहा गया सब अनेकानतात्मक हैं यह मत अन्यथा नहीं हो सकता, इस प्रकार श्रद्धा करते हुए, अपनी बुद्धि मनद होनेसे अथवा गुरु आदिके नय प्रयोगमें कुशल न होनेसे, यह जिन भगवानके द्वारा कहा गया धमार्दितत्त्व ठीक है या बौद्ध आदिकेक्षरा का गया ठीक है, यह जिनोक्त तत्त्व इसी प्रकार है या अन्य प्रकार है, इस प्रकार हृदयमें लगी हुई शंकाको युक्ति और आगममें कुशल गुरु या युक्तिसे समर्थित आगमरूपी तीर्थका तत्काल अवगाहन करके दूर करना चाहिए ॥ ७२ ॥

विशेषार्थ(लोकमें देखा जाता है कि लोग पैरमें कीचड लग जानेपर नदी आदिके घाटपर जाकर उसमे अवगाहन करके शुद्धि कर लेते हैं । इसी तरह अपनी बुद्धि मनद होनेसे या यसमझानेवालेकी अकुशलताके कारण यदि हृदयमें यह शंका पैदा हो जाती है कि जिनोक्त

अथ शकडामलादपायमाह(

सुरुचिः कृतनिश्चयोऽपि हन्तुं क्षिपतः प्रत्ययमाश्रितः स्पृशन्तम् ।

उभयीं जिनवाचि टिमाजौ तुरगं वीर इव प्रतीयंते तैः ॥ ७३ ॥

सुरचिः(सदृष्टिः सुदीपितश्च । कोटिं(वसतुनो रणभूमेश्चाशंम् । आजौ(रणभूमौ ।  
प्रतीयंते(प्रतिखिप्यते प्रतिहन्यत इत्यर्थः ॥ ७३ ॥

अथ भयसंशयात्मकशकडानिरासे यत्नमुपदिशति(

भक्तिः परात्मनि परं शरणं नरस्मिन्

देवः स एव च शिवाय तदुक्त एव ।

धर्मश्च नानय इति भाव्यमशक्वितेन

सनमार्गनिश्चलरुचेः स्मरताऽञ्जनस्य ॥ ७४ ॥

शरणं(अपायपिररक्षणोपायः । नुः(पुरुषस्य । अशंकितेन(भयसंशयरहितेन तद्भेदा ( (त्) द्विधा हि  
शकडा । उक्तं च(

---

तत्त्व ठीक है या नहीं या वह अनेकानत रूप ही है या एकानत रूप है तो सद्युक्तिरूपी तीरमें अवगाहन  
करकेउसे दूर करना चाहिए । यक्ति कहते है नय प्रमाणरूप हेतुको । समीचीन अवाधित युक्तिको सुयक्ति  
कहते हैं । सद्युक्ति तीर्थ है युक्ति और आगममें कुशल गुरु तथा युक्तिसे समर्थित आगम । कहा भी है(

जिनागम और जिनागमके ज्ञाता गुरु, वासतवमें ये दो ही तीर्थ हैं क्योंकि उन्हीकं संसारूपी समुद्र  
तिरा जाता है । उनका सेवक ही तीर्थसेवक है ॥ ७३ ॥

शंका नामक अतीचारसे होनवाले अपायको कहते हैं(

जैसे शूरवीर परुष शत्रुओंको मारनेका संकल्प करके भी युद्धमें यदि ऐसे घोडेपर चढा हो जो  
वेगसवे दौडता हुआ कभी पूरब और कभी पश्चिमकी ओर जाता हो तो वह शत्रुओंकेद्वारा मारा जाता है ।  
उसी तरह सम्यक्दृष्टी मोहरूपी शत्रुओंको मारनेका निश्चय करके भी यदिसब्रजके वचनोंमें यह ऐसा ही है  
या अन्यथा है इस प्रकार दोनों ही कोटियोंको स्पर्श करनेवाली प्रतीतिका आश्रय लेता है तो वह मोहरूपी  
शत्रुओंकेक्षरा सम्ययगदर्शनसे च्युत कर दिया जाता है ॥ ७३ ॥

भय और संशयरूप शंकाको दूर करनेकेलिए प्रयत्न करनेका उपदेश करते हैं(

इस लोकमें जीवको केवल परमात्मामें भक्ति ही शरण है, मोक्षकेलिए उसी परमात्माकी आराधना  
करनी चाहिए, दूसरेकी नहीं, उसी परमात्माकेद्वारा कहा गया धर्म ही मोक्षदाता है दूसरा नहीं । इस प्रकार  
सनमार्ग पर निश्चल श्रद्धा करनेवाले अंजन चोरका स्मरण करते हुए मुमुक्षुको भय और संशयको  
छोडकर निःशंक होना चाहिए ॥ ७४ ॥

वेशेषार्थ(शंकाके दो भेद हैं(भय और संशय । का भी है(मैं अकेला हूँ, तीनों लोकोंमें मेरा कोई  
रक्षक नहीं है, इस प्रकार रोगोंके आक्रमणके भयको शंका कहते हैं । अथवा यह तत्त्व है यह तत्त्व है ? यह  
व्रत है । यह व्रत है ? यह देव है यह देव है इस प्रकार के संशयको शंका कते हैं । इन दोनोंसे जो मुक्त  
है वही निःशंक है । उसीका उपाय बताया है मृत्यु आदिके भयसे मुक्त होनेके लिये य श्रद्धा करना चाहिए

कि परमात्माके सिवाय इस संसारमें अन्य कोई शरण नहीं है । स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें अशरण भावनाका चिन्तन करते

अहमेको न मे कश्चिदसित त्राता जगत्त्रये ।  
इति व्याधिव्रजोत्क्रान्तिं भीतिं शकडां प्रचक्षते ॥  
एतत्तत्त्वमिदं तत्त्वमेतद्ब्रतमिदं व्रतम् ।  
एष देवश्च देवोऽयमिति शकडां विदुः पराम् । ( [ सोम. उपा.]

अञ्जनस्य(अञ्जननाम्निश्चोरस्य ॥ ७४ ॥

अथ कांक्षातिचारनिश्चयार्थमाह(

या रागात्मनि भडरे परवशे सनतापतृष्णारसे  
दुःखे दुःखदबबनधकारणतया संसारसौख्ये स्पृहा ।  
स्याज्ज्ञानावरणोदयैकजनितभ्रानतेरिदं दृक्त्तपो-  
माहात्म्यादुदियानममेत्यतिचरत्येषैव काङ्क्षा दृशम् ॥ ७५ ॥

रागात्मनि(इष्टवास्तु विषयप्रीतिस्वभावे । सन्तापतृष्णारसे-सनतापश्च तृष्णा च रसो  
निर्यासोऽनतःसारोऽस्य । उक्तं च(

---

हुए कहा है(जिस संसारमें देवोंके स्वामी इन्द्रोंका भी विलय देखा जाता है तथा जहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश-  
जैसे देव भी कालके ग्रास बन चके हैं उस संसारमें कुछ भी शरण नहीं है । जैसे शेरके पंजेमें फँसे हुए  
हिरनका कोई नहीं बचा सकता, वैसे ही मृत्युके मुखमें गये हुए पाणीको कीभी कोई नहीं बचा सकता ।  
यदि मरते हुए जीवको देव, तन्त्र, मन्त्र, क्षेत्रपाल वगैरह बचा सकते तो मनुष्य अमर हो जाते । रक्षाके  
विविध साधनोंसे युक्त बलवान्से बलवान् मनुष्य भी मृत्युसे नहीं बचता । यह सब जानते-देखते हुए भी  
मनुष्य तीव्र मिथ्यात्वके फन्देमें फँसकर भूत, प्रेत, यक्ष, आदिको शरण मानता है । आयुका क्षय होनेसे  
मरण हाता है और आयु देनेमें कोई भी समर्थ नहीं है अतः स्वर्गका स्वामी इन्द्र भी मृत्यु से नहीं बचा  
सकता । दूसरोंका बचानेकी बात तो दूर है, यदि देवेन्द्र अपनेको स्वर्गसे च्युत होनेसे बचा सकता तो वह  
सर्वोत्तम भोगोंसे सम्पन्न स्वर्गको ही क्यों छोडता । इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्मान और सम्यक्चारित्र ही  
शरण है, अन्य कुठ भी संसारमें शरण नहीं है, उसीकी परम श्रद्धासे सेवा करनी चाहिए । इस प्रकारकी  
श्रद्धाक बलसे भयरूप शंकासे छुटकारा मिल सकता है । अतः परमात्मामें विशुद्ध भाव युक्त अनतरंग  
अनुराग करना चाहिए और उनके क्षरा कहे गये धर्मको मोक्षमार्ग मानकर संशयरूप शंकासे मुक्त होना  
चाहिए और सम्यग्दर्शनके निःशंकित अंगका पालन करनेमें प्रसिद्ध हुए अंजनचौरके जीवनको स्मृतिमें  
रखना चाहिए कि किस तरह उसने सेठ जिनदत्तके क्षरा बताये गये मंत्रपर दृढ श्रद्धा करके पेडमें लटके  
छीक्रेर बैठकर उसके बन्धन काट डाले और नीचे गडे अस्त्र-शस्त्रोंसे मृत्युका भय नहीं किया । तथा  
अंजनसे निरंजन हो गया ॥ ७४ ॥

कांक्षा नामक अतीचारको कहते हैं (



सांसारिक सुख इष्ट वस्तुके विषयमें प्रीतिरूप होनेसे रागरूप है, स्वयं ही नश्वर है, पुण्यके उदयके अधीन होनेसे पराधीन है, सन्ताप और तृष्णा उसके फल है, दुःखदायक अशुभ कर्मके बन्धका कारण होनेसे दुःखरूप है। ऐसे सांसारिक सुखमें एकमात्र ज्ञानावरण कर्मक उदयसे होनेवाली भ्रान्तिसे जो आकांक्षा होती है कि सम्यग्दर्शनके या तपके माहात्म्यसे मुझे यह इन्द्र आदिका पद या संसारका सुख प्राप्त हो, यही कांक्षा सम्यग्दर्शनमें अतीचार लगाती है ॥ ७५ ॥

यत्तु सांसारिकं सौख्यं रागात्मकमशाश्वतम् ।  
स्वपरद्रव्यसंभूततृष्णासंतापकारणम् ॥  
मोह-द्रोह-मद-क्रोध-ज्ञाना-लोभनिबन्धनम् ।  
दुःखकारणबन्धस्य हेतुत्वाद् दुःखमेव तत् ॥ [ तत्त्वानुशा. २४३-२४४ ]

अपि च(

सपरं बाधासहिदं विच्छिन्नं बन्धकारणं विसमं ।  
जं इंदिएहि लध्दं तं सुखं दुःखमेव तहा ॥ [ प्रवचनसार १/७६ ]

एकः(दृग्मोहोदयसहायरहितः । सदृष्तीनां तन्निमित्तभ्रान्त्यसीवादनयथ मिथ्याज्ञानप्रसदात् । तथ  
चोक्तम्(

उदये यद्विपर्यस्तं ज्ञानावरणकर्मणः ।  
तदस्थस्तनुतया नोक्तं मिथ्याज्ञानं सुदृष्टिषु ॥ [ अमित. पं. सं. १/२३३ ]  
इंद्रइन्द्रादिपदं संसारसौख्यं वा । उदियात् ।  
एषैव न कृष्यादिना धान्यधनादावाकांक्षाऽन्यथातिप्रसदात् । उक्तं च-

स्यां देवःस्यामहं यक्षः स्यां वा वसमतीपतिः ।  
यदि सम्यक्त्वमाहात्म्यमस्तीतीच्छं परित्यजेत् ॥ [ सोम. उपा. ] ॥ ७५ ॥

---

विशेषार्थ(संसारके सुखका स्वरूप आचार्य कन्दकुन्दने इस प्रकार कहा है( जो परद्रव्यकी अपेक्षा रखता है, भूख-प्यास आदिकी बाधसे सहित है, प्रतिपक्षी असाताके उदयसे सहित होनेसे बीचमें नष्ट हो जाता है, कर्मबन्धका कारण है, घटता-बढता है, तथा जो इन्द्रियोंके क्षरा प्राप्त होता है ऐसा सुख दुःखरूप ही है ।

अन्यत्र भी कहा है(

जो रागात्मक सांसारिक सुख है वह अनित्य है, स्वद्रव्य और परद्रव्यके मेलसे उत्पन्न होता है, तृष्णा और सन्तापका कारण है, मोह, द्रोह, मद, क्रोध, माया और लोभका हेतु है, दुःखका कारण जो कर्मबन्ध है उसका कारण है इसलिए दुःखरूप है । सम्यग्दृष्टिको भी एकमात्र ज्ञानावरण कर्मके उदयसे

संसारके सुखमे सुखकी भ्रान्ति होती है । एकमात्र कहनेका यह अभिप्राय है कि उसके साथमे दर्शनमोहका उदय नही है क्योकि सम्यग्दृष्टियोके दर्शनमोहके उदयसे होनेवाली भ्रान्ति असम्भव है । यदि उनकेवैसी भ्रान्ति हो तो उनके मिथ्याज्ञानका प्रसंग आता है । कहा भी है--

ज्ञानावरणसा कर्मके उदयमे जो ज्ञानमे विपरीतपना आता है वह तो अस्थायी है इसलिए सम्यग्दृष्टियोमे मिथ्याज्ञान नही कहा है ।

ज्ञानावरण कर्मके उदयमे जो ज्ञानमे विपरीतपनला आता है वह तो अस्थायी है इसलिए सम्यग्दृष्टियोमे मिथ्याज्ञान नही कहा है ।

तो ज्ञानावरण कर्मके उदयजन्य भ्रान्तिसे सम्यग्दृष्टिको भी संसारके सुखकी चाह होती है । वही चाह सम्यग्दर्शनमे अतीचार लगाती है । कहा है--

यदि सम्यक्त्वमे माहात्म है तो मै देव होऊँ, यक्ष होऊँ अथवा राजा होऊँ, इस प्रकारकी इच्छाको छोडना चाहिए । वही चाह कहनेसे अभिप्राय यह है कि यदि कोई सम्यग्दृष्टि कृषि-व्यापार आदिके द्वारा धन-धान्य प्राप्त करनेकी इच्छा करता है तो वह इच्छा सम्यक्त्वका अतीचार नही है ॥७५॥

अथाकांक्षापराणां सम्यक्त्वफलहानि कथयति--

यल्लीलाचललोचनाच्चलरसं पातुं पुनर्लालसाः

स्वश्रीणां बहु रामणीयकमदं मृदनन्त्यपीन्द्रायदयः ।

तां मुक्तिश्रियमुत्कयद्विदधते सम्यक्त्वरत्नं भव-

श्रीदासीरतिमूल्यमाकुलधियो धन्यो हयविद्यातिगः ॥७६॥

लालसाः--अतिलम्पटाः । मृदनन्तिइसंचूर्णयन्ति । उत्कयद--उत्कण्ठितां कर्वत । उक्तं च--

उदस्वितैव माणिक्यं सम्यक्त्वं भवजैः सुखैः ।

विक्रीणानः पुमान् स्वस्य वच्चकः केवलं भवेत् ॥ [सोम. उपा.] ॥७६॥

अथ सम्यक्त्वादिजनितपुण्यानां संसारसुखाकाङ्क्षाकरणे न किमपि फलमिति दर्शयति--

तत्त्वश्रद्धानबोधोपहितयमतपःपात्रदानादिपण्यं,

यदगीर्वाणाग्रणीभिः प्रगुणयति गुणैरर्हणामर्हणीयैः ।

तत्प्राध्वंकृत्य बुद्धि विधुरयसि मुधा क्वपि संसारसारे,

तत्र स्वैर हि तत तामनुचरति पुनर्जन्मनेजन्मने वा ॥७७॥

अर्हणा--पूजाम । प्राध्वंकृत्य--बदध्वा । तामनुइतया बुध्दया सह । पवुनर्जन्मने--उत्तमदेव-  
मनुष्यत्वलक्षणपुनर्वावार्थे । अजन्मने--अपुनर्भवार्थम ॥७७॥

---

संसारकेसुखकी आकांक्ष करनेवालोकेसम्यक्त्वकेफलकी हानि बतलाते है--

जिसकी लीलासे चंचल हुए नेत्राके कटाक्षरू पी रसको पीनेके लिए आतुर इन्द्रादि भी अपनी लक्ष्मियोके-देवियोके सम्भोग प्रवृत्तिके विपुल मदको चूर-चूर कर देते है उस मुक्तिरू पी लक्ष्मीको उत्कण्ठित करनेवाले सम्यक्त्वरू पी रत्नको विषय सेवनके लिए उत्सुक मनोवृत्तिवाले पुरुष संसारकी लक्ष्मीरू पी दासीके साथ सम्भोग करनेके भंडेके रू पमे दे डालते है । अतः जो अविद्याके जालमे नही फँसता वह धन्य है ॥७६॥

विशेषार्थ--सम्यक्त्व रू पी रत्न मुक्तिरू पी लक्ष्मीको आकृष्ट करनेवाला है क्योकि सम्यग्दृष्टि ही मुक्तिलक्ष्मीका वरण करता है । और मुक्तिलक्ष्मीका वरण करनेकेलिए इन्द्रादिक भी इतने उत्सुक रहते है कि वे स्वर्गके सुखेमे मग्न न होकर पुनः मनुष्यजन्म प्राप्त करके तपश्चरण करनेकी इच्छा रखते है । ऐसे सम्यक्त्व रत्नके बदलेमे जो विषयसुखकी आकांक्षा करता है वह मनुष्य उस विषयकी मनुष्यके तुल्य है जो किसी दासीके साथ सम्भोग करनेके बदलेमे चिन्तामणि रत्न दे डालता है । कहा भी है--

जो सांसारिक सुखोके बदलेमे सम्यक्त्वके बेचता है वह छदाछके बदलेमे माणिक्यको बेचनेवाले मनुष्यकेसमान केवल अपनेको ठगता है ॥७६॥

आगे कहते है कि सम्यक्त्वं आदिसे पुण्यकर्मका संचय करनेवाले मनुष्योको संसार सुखकी आकांक्षा करनेसे कुछ भी लाभ नही होता--

तत्त्वश्रद्धान और सम्यग्ज्ञानसे विशिष्ट यम, तप, पात्रदान आदिके द्वारा होनेवाला पुण्य पूजनीय तीर्थकरत्वादि गुणेके कारण इन्द्रादिकेद्वारा पूजा कराता है । तथा तेरी कल्पनाकी अपेक्षा न करके स्वयं ही तेरी भावनाके अनुसार उत्तम देव और मनुष्य रू पमे पुनर्जन्मके लिए या अपुनर्जन्म--मोक्षके लिए प्रवृत्त होता है । ऐसे महान पुण्यका बन्ध करकेतू संसारके रसमे व्यर्थ ही अपनी बुद्धिको परेशान करता है की इस पुण्यके उदयसे मुझे अमुक अभ्युदय प्राप्त होवे ॥७७॥

अथ आकांक्षानिरोधेत्यन्तं यत्नमपदिशति--

पुण्योदयैकनियतोभ्युदयोत्र जन्तोः,

प्रेत्याप्यतश्च सुखमप्यभिमानमात्रम ।

तन्नात्र पोरु षतृषे परवागुपेक्षा-

पक्षो हयनन्तमतिवन्मतिमानुपेयात् ॥७८॥

प्रेतयापि--परलोकेपि । अत्र--अभ्युदयतज्जनितसुखेयोः । परवाचः--सर्वथैकान्तवादिमतानि । उपेयात् ॥७८॥

अथ विचिकित्सातिचारं लक्षयति--

कोपादितो जुगुप्सा धर्मडेयाशुचौ स्वतोडादौ ।  
विचिकित्सा रत्नत्रयमाहात्म्यारु चितय दृशि मलः सा ७९॥

अशुचौ--अपवित्रेर्म्ये च ॥७९॥

अथ महतां स्वदेहे निर्विचिकित्सतामात्म्यमाह--

यद्योषधातुमलमूलमपायमूल-

मडं निरडमहिमस्पृहया वसन्तः ।

सनतो न जातु विचिकित्सितमाराभन्ते

संविद्रते हतमले तदिमे खलु स्वे ॥८०॥

निरडाः--सिध्दाः । संविति लभन्तेइहतमले--विलीनकर्ममालिन्ये ॥८०॥

---

आगे आकांक्षाको रोकनेकेलिए अधिक प्रयत्न करनेका उपदेश करते हैं-

इस लोक और परलोकमे भी जीवका अभ्युदय एकमात्र पुण्योदयके अधीन है, पुण्यका उदय होनेपर ही होता है इसके अभावमे नहीं होता । और इस अभ्युदयसे सुख भी मैं सुखी हूँ इस प्रकारकी कल्पना मात्र होता है । इसलिए सर्वथा एकान्तवादी मतोंके प्रति उपेक्षाका भाव रखनेवाले बुद्धिमान पुरुषोंको श्रेष्ठीपुत्री इनन्तमतीकी तरह अभ्युदयके साधनोमे पौरुष प्रयत्न नहीं करना चाहिए तथा उससे होनेवाले सुखमे तृष्णा नहीं करना चाहिए ॥७८॥

आगे विचिकित्सा नामक अतीचारक स्वरूप कहते हैं--

क्रोध आदिकेवश रत्नत्रयरूप धर्ममे साधन किन्तु स्वभावसे ही अपवित्र शरीर आदिमे जो ग्लानि होती है वह विचिकित्सा है । वह सम्यग्दर्शन आदिकेप्रभांवमे अरु चिकित्सा होनेसे सम्यग्दर्शनका मल है--  
-दोष है ॥७९॥

विशेषार्थ--शरीर तो स्वभावसे ही गन्दा है, उसके भीतर मल-मूत्र-रू धिर आदि भरा है, ऊपरसे चामसे मढा है । किन्तु वे शरीरकी उपेक्षा ही करते हैं । इससे उनका शरीर बाहरसे भी मलिन रहता है । ऐसे शरीरको देखकर उससे धृष्णा करना वस्तुतः धर्मके प्रति ही अरु चिका द्योतक है । अतः वह सम्यग्दर्शनका अतीचार है ॥७९॥

महापुरुषोंकेद्वारा अपने शरीरमे विचिकित्सा न करनेका महात्म्य बतलाते हैं--

सन्त पुरुष मुक्तातमओकी गुणसम्पत्तिकी अभिलाषासे दोष--वात-पित्त-कफ, धातु--रू धिर, मांस, भेद, हड्डी, मज्जा, वीर्य, और मल, पीसना वगैरहसे बने हुए तथा आपत्तियोंके

अथ महासत्त्वानां निमित्तसंनिधनेपि जुगुप्सानुदावं भावयति--

किचित्कारणमाप्य लिडमुदयन्निर्वेदमासेदुषो,

धर्माय स्थितिमात्रविध्यनुगमेप्युच्चैरवद्यादिया ।  
स्नानादिप्रतिकर्मदूरमनसः प्रव्यक्तकुत्स्याकृति,  
कायं वीक्ष्य निमज्जतो मुदि जिनं स्मृतुः क शूकोदगमः ॥८१॥

लिङ्ग-आचेलक्यलोचादि । आसेदुषः--आश्रितस्य ॥८१॥  
अथ विचिकित्साविरहे यत्नमादिशति--

द्रव्यं विडादि करणैर्न मयैति पृक्ति,  
भावः क्षुदादिरपि वैकृत एव मेऽम ।  
तक्ति मयात्र विचिकित्स्यामिति स्वमृच्छे-  
दुद्यायनं मुनिरू गु धरणे स्मरेच्च ॥८२॥

विडादि--पुरीषमूत्रादि । पृक्ति--संपर्कम । अत्र--एतयोर्द्रव्यभावयोर्मध्ये । किं विचिकित्स्यं--न  
किमपीत्यर्थः । स्वमृच्छेत--आत्मानमाविशेत सम्यग्दृष्टिरिति शेषः ॥८२॥  
अथ परदृष्टिप्रशंसां सम्यक्त्वमलं निषेदधुं प्रयुङ्क्ते--

---

मूल शरीरमे रहते हए कभी भी उससे ग्लानि नही करते है । इससे वे सन्त पुरु ष निश्चय ही कर्म-मलसे  
रहित अपनी आत्मामे ज्ञानको प्राप्त करते है ॥८०॥

महापुरु षोको निमित्त मिलनेपर भी ग्लानि नही होती--

किसी इष्टवियोग आदि करणको पाकर, वैराग्यके बढनेपर केशलोच पूर्वक दिगम्बर मुनिलिगको  
धारण करके, धर्मकी साधनाके हेतु शरीरकी केवलस्थिति बनाये रखनेके लिए, न कि बाह्य चमक-दमक के  
लिए, विधिपूर्वक आहार आदि ग्रहण करते हुए भी, पापके अत्यधिक भयसे स्नान, तेलमर्दन आदि  
प्रसाधनोसे जनका मन अत्यन्त निवृत्त है. अतएव अत्यन्त स्पष्ट बीभत्स रू पवाले उन मुनिराजके  
शरीरको देखकर जिन भगवानका स्मरण करते हुए आनन्दमे निमग्न सम्यग्दृष्टि को ग्लानि कैसे हो  
सकती है अर्थात् नही हो सकती ॥८१॥

विचिकित्साके त्यागके लिए प्रयत्न करनेका उपदेश देते है--

विष्ठा, मूत्र, आदि द्रव्य अचेतन, स्पर्शन आदि इन्द्रियोके साथ सम्बन्ध करता है, मेरे चिद्रूपके साथ  
नही, क्योकि मूर्तका सम्पर्क मूर्तके ही साथ होता है । मेरे यह भूख प्यास आदि भी कर्मके उदयसे होनेके  
कारण वैकारिक ही है । इसलिए इन द्रव्य और भावोमे किससे मुझे विचिकित्सा करनी चाहिए ? ऐसा  
विचार करते हुए सम्यग्दृष्टिको शुद्ध चैतन्य रू प आत्मामे स्थिर होना चाहिए । तथा मुनियोके रोगका  
निवारण करनेमे राजा उद्यायनका स्मरण करना चाहिए ॥८२॥

विशेषार्थ--राजा उद्यायन निर्विचिकित्सा अंगका पालन करनेमे प्रसिद्ध हुआ है । उसने मुनिको  
वमन हो जानेपर भी ग्लानि नही की थी और उनकी परिचर्यामे लगा रहा था ॥८२॥

सम्यक्त्वके परदृष्टि प्रशंसा नामक अतीचारको दूर करनेकी प्रेरणा करते है--

एकान्तध्वान्तविध्वस्तवस्तुयाथात्म्यसंदिम ।  
न कुर्यात् परदृष्टिना प्रशंसा दृक्कलडिनीम ॥८३॥

परदृष्टीना--बौध्दादीनाम ॥८३॥

अथ अनायतनसेवा दृगमलं निषेधति--

मिथ्यादृग्ज्ञानवृत्तानि त्रीणि त्रीस्तद्वतस्तथा ।  
षडनायतनान्याहुस्तत्सेवां दृडमलं त्यजेत् ॥८४॥

तद्वतः--मिथ्यादृगादियुक्तान पुरु षान । उक्तं च--

घमिथ्यादर्शनविज्ञानचारित्रैः सह भाषिताः ।  
तदाधारजनाः पापाः षेढाऽनायतने जिनैः ॥ [अमि. श्रा. २।२५] ॥८४॥

अथ मिथ्यात्वाख्यानायतनं निषेधधुं नयति--

---

वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है इस प्रकारके एकान्तवादरू पी अन्धकारसे जिनका वस्तुके याथर्थ स्वरू पका ज्ञान अर्थात् तत्वका बोध नष्ट हो गया है उन बौध्द आदि एकान्तवादियोंकी प्रशंसा नही करनी चाहिए, क्योकि उससे सम्यक्त्वमे दूषण लगता है ॥८३॥

सम्यग्दर्शनकेअनायतन सेवा नामक दृष्टिदोषका निषेध कहते है--

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मथ्याचारित्र ये तीन तथं इनके धारक मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री ये छह अनायतन है । सम्यग्दृष्टिको इन छहोकी उपासना छोडनी चाहिए: क्योकी यह सम्यक्त्वका दोष है ॥८४॥

विशेषार्थ--अन्यत्र भी ये ही छह अनायतन कहे है यथा--

घमिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रके साथ उनके धारक पापी जन ये छह अनायतन जिनदेवने कहे है । किन्तु द्रव्यसंग्रह (गा.४९)की टीकामे मिथ्यादेव, मिथ्यादेवके आराधक, मिथ्यातप, मिथ्यातपस्वी, मथ्याआगम और मिथ्याआगमके धारक ये छह अनायतन कहे है । कर्मकाण्ड (गा.७४) की टीकामे भी ये ही छह अनायतन कहे है । भगवती अराधनामे सम्यग्दर्शनके पाँच अतीचार इस प्रकार कहे है--